

ज

जगजीवन राम

(Jagjivan Ram)

भारत में दलित आंदोलन तथा राजनीति की दो धाराएँ आज़ादी से पूर्व से ही समानांतर चलती रही हैं। एक धारा डॉ. आम्बेडकर की थी, और दूसरी धारा के शीर्ष पर बाबू जगजीवन राम (1908-1986) थे। दरअसल, इस धारा का उद्गम कांग्रेस में निहित था जिसे पहले गाँधी ने मज़बूत किया फिर उन्हीं के उत्तराधिकारी के तौर पर बाबू जगजीवन राम उसे आगे तक ले गये। बकौल वियोगी हरि नेहरू युग से इंदिरा गाँधी तक कितने ही राजनीतिज्ञ उभरे और विलीन हो गये, लेकिन इस लम्बे दौर में जगजीवन राम की उपस्थिति लगातार बनी रही। जगजीवन राम एक कुशल वक्ता, लेखक और प्रभावशाली प्रशासक थे। आज़ादी के बाद अपने राजनीतिक जीवन का अधिकतम समय उन्होंने सत्ता में गुज़ारा और इस दौरान देश के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मंत्रालयों की ज़िम्मेदारी कुशलता से सँभाली। 1971 के ऐतिहासिक बांग्ला देश युद्ध के समय वे ही प्रतिरक्षा मंत्री थे। 1969 से 1971 के बीच के संकटकाल में जगजीवन राम ने अपनी सांगठनिक क्षमताओं का लोहा मनवाते हुए कांग्रेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष का पद भी सँभाला। सारे जीवन कांग्रेस में रहने के बाद 1977 में आपातकाल उठते ही जगजीवन राम ने कांग्रेस छोड़ कर कांग्रेस फ़ॉर डेमोक्रेसी का गठन किया। उनके इस क्रम ने तत्कालीन राजनीति को एक निर्णायक मोड़ दिया। वे केंद्र में गैर-कांग्रेसी जनता पार्टी के शीर्ष नेताओं में से एक बने। चुनावों में कांग्रेस की पराजय के बाद जगजीवन राम प्रधानमंत्री बनने की दौड़ में सबसे आगे थे। लेकिन उनकी

दावेदारी की उपेक्षा की गयी। उन्हें प्रधानमंत्री न बनाकर उप-प्रधानमंत्री बनाया गया। जगजीवन राम ने जनता पार्टी से नाराज़ होकर कांग्रेस (जे) का गठन किया। वे 1984 में पुनः कांग्रेस के सांसद बने। उन्होंने आठ बार लगातार सांसद रहने का रिकॉर्ड बनाया।

बिहार के भोजपुर जिले के चंदवा ग्राम में 5 अप्रैल, 1908 को पैदा हुए जगजीवन राम के पिता का नाम शोभीराम और माँ का बसंती देवी था। उनका बचपन बेहद ग़रीबी में बीता। जब वे केवल पाँच वर्ष के थे तो गाँव में आयी बाढ़ के कारण उनके परिवार को बेघर हो जाना पड़ा। 1914 में उन्हें प्राथमिक स्कूल में भरती किया गया, लेकिन इसी समय पिता का देहांत हो गया। लेकिन माँ बसंती देवी ने अपने बेटे को शिक्षित करने का भागीरथ प्रयास किया। अस्पृश्यता और जाति भेद का दंश झेलते हुए जगजीवन राम ने 1926 में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक और 1931 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में बीएससी परीक्षा पास की। साथ-साथ वे कलकत्ता में दलितों को संगठित करने का कार्य भी करते रहे। बिहार में उन्होंने अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के तत्वावधान में दलित जातियों को संगठित किया। यह संगठन 1937 के चुनाव में एक शक्तिशाली राजनीतिक दल के रूप में उभरा। पहले इसका कार्य क्षेत्र केवल बिहार था बाद में इसकी शाखाएँ देश भर में खुलनी शुरू हुईं। उत्तर प्रदेश में डॉ. धर्म प्रकाश ने दलित वर्ग संघ के गठन का नेतृत्व किया। दरअसल, जगजीवन राम को सत्ता में लाने तथा आगे तक सत्ता में बनाये रखने में इस संगठन की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इस संगठन की सभाओं में विजय लक्ष्मी पण्डित, जवाहरलाल नेहरू, कृष्ण मेनन, मोरारजी देसाई तथा डी. संजीवैया जैसे नेता दलितों को सम्बोधित करने आते थे।

1932 में जगजीवन राम आरा नगर पालिका के सदस्य



जगजीवन राम (1908-1986)

हुए। एक तरह से यहीं से उनकी राजनीतिक यात्रा आरम्भ हुई और इसके बाद कांग्रेस में इनकी गतिविधियाँ बढ़ती गयीं। असहयोग आंदोलन में जेल जाने वाले जगजीवन राम 1937 में बिहार विधान परिषद् के सदस्य बने और सरकार में संसदीय सचिव का पद संभाला। 1939 में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों द्वारा अंग्रेजों की नीति के विरुद्ध इस्तीफ़ा देने वालों में जगजीवन राम भी शामिल थे। उन्होंने 1940 में बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मंत्री का पद संभाला और 1942 में मेरठ में अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन का सभापतित्व किया। 10 सितम्बर, 1940 को व्यक्तिगत सत्याग्रह के कारण तथा 1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन के समय उन्हें गिरफ्तार किया गया। 1946 में केंद्र की अस्थायी सरकार में वे श्रम मंत्री बने। इसके बाद केंद्र में सर्वोच्च मंत्रालयों का कार्यभार संभालने का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह आखिर तक नहीं थमा। 1952 के पहले आम चुनाव में जगजीवन राम सासाराम से सांसद बने और उसके बाद उन्होंने पीछे मुड़ कर नहीं देखा। उनके हाथ में आने वाला विभाग चमक उठता था। जगजीवन राम के हाथ में संचार मंत्री, परिवहन मंत्री, रेल मंत्री, खाद्य-कृषि सामुदायिक विकास मंत्री, श्रम-रोजगार मंत्री और प्रतिरक्षा मंत्री का दायित्व रहा।

अक्सर यह पूछा जाता है कि जगजीवन राम गाँधी के दलित संबंधी विचारों से किस हद तक सहमत थे, और आम्बेडकर के विचारों से उनकी कितनी दूरी थी। इस

सिलसिले में माता प्रसाद का विचार है कि जगजीवन राम गाँधी के अनुयायी जरूर थे पर अस्पृश्यता के सवाल पर उनसे अलग विचार रखते थे। गाँधी वर्ण-व्यवस्था बनाये रखते हुए अस्पृश्यता दूर करना चाहते थे। लेकिन जगजीवन राम का कहना था कि वर्ण-व्यवस्था और जाति-पाँति का विनाश आवश्यक है। समझा जाता है कि उन्होंने गाँधी द्वारा प्रयुक्त 'हरिजन' शब्द का प्रतिवाद करते हुए आम्बेडकर की सराहना भी की थी। पूना पैक्ट के सवाल पर भी उनकी राय आम्बेडकर के पक्ष में थी। लेकिन व्यावहारिक राजनीति में वे दलितों का नेतृत्व जीतने की कांग्रेसी परियोजना के मुख्य कर्ताधर्ता बन कर आम्बेडकर के नेतृत्व वाली राजनीतिक धारा के साथ होड़ करते रहे।

संचार मंत्री की हैसियत से जगजीवन राम ने पदोन्नतियों में भी आरक्षण लागू किया जिसे सुप्रीम कोर्ट तक ने उचित ठहराया। आरक्षण का विरोध करने वालों से उनका कहना था : आज ब्राह्मण आरक्षण का विरोध कर रहे हैं। लेकिन आरक्षण का रास्ता उन्होंने ही दिखाया है। मंदिर में पुजारी कौन होगा? ब्राह्मण के सुरक्षित रिजर्वेशन को हम भी तोड़ते हैं। फ़ैसला कर दो, मंदिर का पुजारी वही होगा जो सरकार द्वारा निर्धारित की गयी परीक्षा पास करेगा। सत्यनारायण की कथा कहने वाला ब्राह्मण ही क्यों? अगर किसी वाल्मीकि ने शास्त्री की परीक्षा पास कर ली है, तो वह सत्यनारायण की कथा क्यों नहीं कह सकता?' यह था समता और बराबरी लाने के लिए उनका दर्शन।

जगजीवन राम की संत रविदास पर असीम श्रद्धा थी। वाराणसी में राजघाट पर उन्होंने संत रविदास का विशाल मंदिर बनवाया। 1984 में भारतीय दलित साहित्य अकादमी के गठन की प्रेरणा भी उन्हीं से मिली। हिंदी साहित्य पर बाबू जगजीवन राम की अच्छी पकड़ थी। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की अध्यक्षता करते समय उन्होंने जो सारगर्भित भाषण दिया था उसे आज भी लोग याद करते हैं। वे संत साहित्य के भी मर्मज्ञ थे। जगजीवन राम के भाषण विद्वत्तापूर्ण और तर्क-सम्मत होते थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें प्रमुख हैं *भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या* तथा *क्रास्ट चैलेंज इन इण्डिया*।

जगजीवन राम की गिनती भारत के सफलतम राजनेताओं में की जा सकती है। लेकिन 1977 में जनता पार्टी सरकार के पतन के बाद की राजनीति में उनके सितारे की चमक मंद होती चली गयी। 1980 के चुनाव में उनकी पार्टी कांग्रेस (जे) उन्हें प्रधानमंत्री बनाने की दायित्व के साथ चुनाव लड़ी लेकिन वे इंदिरा गाँधी की सत्ता में वापसी नहीं रोक सके। उनकी समाधि अन्य राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही राजघाट पर समता स्थल के रूप में बनायी गयी।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आर्यकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. राजपाल सिंह राज (2007), *हृदय सम्राट बाबू जगजीवन राम*, श्री नटराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. माता प्रसाद (2006), *भारत में सामाजिक परिवर्तन के प्रेरणा-स्रोत*, सम्यक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. कन्हैया लाल चंचरीक (2003), *आधुनिक भारत का दलित आंदोलन*, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

— मोहन दास नैमिशराय

जन-हित याचिका

(Public Interest litigation)

जन-हित याचिका एक ऐसी न्यायिक परिघटना है जो साबित करती है कि भारत में न्याय का स्वरूप महज कानूनी न हो कर सामाजिक और आर्थिक भी है। आपातकाल के बाद भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने लोकस हिंदी शब्द भी आना चाहिए स्टेंडाई के प्रावधान को काफ़ी लचीला बनाते हुए व्यवस्था दी कि अगर कोई व्यक्ति अपने अधिकारों के हनन के बावजूद न्यायालय तक पहुँचने में सक्षम नहीं है तो कोई अन्य जागरूक व्यक्ति या संगठन (भले ही उसका मामला से संबंध न भी हो) न्यायालय को उस बारे में सूचित कर सकता है। न्यायालय इसे एक याचिका के रूप में ही विचारार्थ स्वीकार करेगा। सर्वोच्च न्यायालय के इस क्रम के बाद ग़रीबों, शोषितों एवं वंचित तबकों के अधिकारों के साथ-साथ पर्यावरणीय समस्याओं के प्रति कार्यपालिका की लापरवाही तथा सरकारी अधिकारियों के अवैधानिक कृत्यों को लेकर अदालत में अनेक याचिकाएँ दायर हुई तथा इसकी सुनवाई करते हुए न्यायालय ने प्रभावी दिशा-निर्देश जारी किये। इन्हीं याचिकाओं को जन-हित याचिका कहा जाता है। इससे भारतीय न्यायपालिका को काफ़ी प्रतिष्ठा मिली। ऐसा कहा जाने लगा कि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय जन-हित याचिकाओं की शुरुआत कर भारतीयों के लिए सर्वोच्च न्यायालय में परिणत हो गया। उल्लेखनीय है कि भारत के

संविधान में जन-हित याचिका का कोई लिखित प्रावधान नहीं है तथा न्यायालय ने संविधान की व्याख्या करके इस शक्ति को प्राप्त किया है। विरोधाभास यह है कि जन-हित याचिकाओं के जरिये न्यायालय ने कुछ इस तरह की व्याख्याएँ भी की हैं और निर्णय दिये हैं जिनसे सबसे ज्यादा ग़रीबों एवं शोषितों के ही हित प्रभावित हुए हैं। इसलिए न्यायालय पर जन-हित याचिका को लेकर न्यायालय का दृष्टिकोण बदलने का आक्षेप भी लगाया जाने लगा है।

जन-हित याचिका के पद का प्रयोग सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका में किया गया, लेकिन भारत में अपनायी गयी जन-हित याचिका की पद्धति अमेरिकी परम्परा से काफ़ी अलग है। अमेरिका में जन-हित याचिकाओं के लिए धन की आपूर्ति सरकार एवं निजी प्रतिष्ठानों द्वारा की जाती है। इनमें राज्य के द्वारा होने वाले उत्पीड़न, सरकार के अवैधानिक कृत्यों एवं ग्रामीण ग़रीबों पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता है। वहाँ किसी खास वर्ग या समूह के हितों के बजाय उपभोक्तावाद एवं पर्यावरण से संबंधित 'समूह-विहीन हितों' पर और सरकारी नीति-निर्माण में नागरिकों की भागीदारी सुनिश्चित करने पर ज्यादा जोर दिया जाता है। इसके विपरीत भारत में जन-हित याचिका के तीन मकसद हैं। पहला, अपने अधिकारों से वंचित समाज के ग़रीब एवं उपेक्षित तबकों तक न्याय की पहुँच सुनिश्चित करना। दूसरा, व्यक्तियों एवं लोगों के समूहों को इस बात के लिए सक्षम बनाना कि वे भ्रष्ट एवं लचर शासन की वजह से सामान्य-जन की समस्याओं के खिलाफ़ आवाज़ उठा सकें और तीसरा, संवैधानिक निर्णयन की प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी बढ़ाना। इस प्रकार से भारत में जन-हित याचिकाओं का मुख्य मकसद ग़रीबों एवं शोषितों को न्याय दिलाने तथा राज्य की मशीनरी द्वारा होने वाले उत्पीड़न से उनकी रक्षा करना है। यही वजह है कि उपेक्षित बरख़ी इन याचिकाओं को जन-हित याचिका की जगह सार्वजनिक कार्यवाही याचिका करार देते हैं।

भारत में जन-हित याचिका की शुरुआत का श्रेय न्यायाधीश पी.एन. भगवती और वी.आर. कृष्ण अय्यर को जाता है। इन न्यायाधीशों ने लोकस स्टेंडाई के प्रावधान को लचीला बना कर न केवल जागरूक लोगों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और संगठनों को विभिन्न कानूनों के उल्लंघन, ग़रीबों एवं वंचितों के शोषण, अपनी जिम्मेदारियों के प्रति बेपरवाह शासन एवं पर्यावरण प्रदूषण के खिलाफ़ न्यायालय में याचिका दायर करने में सक्षम बनाया, बल्कि यह भी व्यवस्था दी कि इस तरह के मामलों में महज एक पोस्टकार्ड या टेलीग्राम द्वारा भी न्यायालय को सूचित किया जा सकता है। इसे पत्र-विषयक न्यायिक क्षेत्राधिकार की संज्ञा दी जाती है। इतना ही नहीं न्यायालय ने यह भी व्यवस्था की कि यदि कोई व्यक्ति या संगठन न्यायालय को सूचित न भी करे तथा

समाचार पत्र या किसी अन्य माध्यम से भी न्यायालय को किसी घटना की जानकारी मिले तो अदालत उसका संज्ञान अपनी पहल से ले सकती है।

न्यायालय में जो भी जन-हित याचिका दायर की जाती है वह संविधान के अनुच्छेद 32 एवं 226 के अंतर्गत होती है। संविधान के अनुच्छेद 32 तथा 226 में क्रमशः सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों को रिट जारी करने का अधिकार दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय को ये शक्तियाँ जहाँ मौलिक अधिकारों के संरक्षण के संदर्भ में दी गयी हैं, वहीं उच्च न्यायालयों को ये शक्तियाँ मौलिक अधिकारों के साथ-साथ अन्य दूसरे कानूनों के उल्लंघन के संदर्भ में भी प्राप्त हैं। जन-हित याचिका को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य (1973) के मुकदमे में न्यायालय द्वारा संविधान के मौलिक ढाँचे को लेकर दिये गये निर्णय की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। मौलिक ढाँचे की अस्पष्टता की स्थिति में न्यायालय ने संविधान के भाग तीन में दिये गये मौलिक अधिकारों की विस्तृत व्याख्या करके संविधान के कई अलिखित प्रावधानों को न्यायिक निर्णय द्वारा एक लिखित स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया।

उदाहरण के लिए मेनका गाँधी बनाम भारत संघ के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 21 की व्याख्या करते हुए निर्णय दिया कि जीवित रहने का अधिकार केवल शारीरिक अस्तित्व तक ही सीमित नहीं है, बल्कि मानवीय गरिमा के साथ जीवित रहने का अधिकार भी उसके परिक्षेत्र में आता है। इस प्रकार विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिद्धांत पर गठित न्यायपालिका ने प्राकृतिक न्याय की तरफ़दारी करते हुए विधि की समुचित प्रक्रिया का सिद्धांत अपना लिया। आगे चलकर न्यायालय ने इसी अनुच्छेद के आधार पर जेल में बंद विचाराधीन कैदियों के अधिकारों को लेकर कई तरह के दिशा-निर्देश जारी किये। न्यायालय ने इसमें जमानत के अधिकार, तेज़ी से मुकदमे की सुनवाई के अधिकार, हिरासत में मानवीय व्यवहार के अधिकार, निजता के अधिकार तथा ग़रीबों को विधिक सहायता उपलब्ध कराने का अधिकार भी सम्मिलित कर दिया। इसी अनुच्छेद की व्याख्या करके न्यायालय ने यह भी व्यवस्था दी कि जीने के अधिकार के तहत स्वच्छ हवा और पानी का अधिकार भी सन्निहित है और पर्यावरण की सुरक्षा के संदर्भ में कई दिशा-निर्देश दिये।

लोकस स्टेंडाई का प्रावधान उदार बना कर तथा मौलिक अधिकारों की विस्तृत व्याख्या कर न्यायालय ने मानव अधिकार, बाल अधिकार, दैनिक मजदूरों, बंधुआ मजदूरों, महिला अधिकार, फ़ुटपाथ पर रेहड़ी लगाने वालों, झुग्गी-झोपड़ी वासियों, विचाराधीन कैदियों के अधिकारों से लेकर

पर्यावरण संरक्षण से संबंधित अनेक याचिकाओं को स्वीकार किया तथा कार्यपालिका को दिशा-निर्देश जारी किये। प्रथम जन-हित याचिका के रूप में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष हुस्सैनारा खातून बनाम बिहार राज्य (1979) का मामला आया। न्यायालय ने जल्द से जल्द मुकदमे की सुनवाई के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 में सन्निहित माना तथा बिहार की जेलों में बंद तक़रीबन चालीस हजार विचाराधीन कैदियों की रिहाई के आदेश जारी किये। इसी प्रकार अनिल यादव बनाम बिहार राज्य (1981) के मुकदमे में न्यायालय ने भागलपुर जेल में बंद 33 संदिग्ध अपराधियों के आँखों में पुलिस द्वारा तेज़ाब डालकर नुक़सान पहुँचाने की घटना के जाँच के आदेश दिये तथा पीड़ितों का इलाज़ राज्य के खर्च पर दिल्ली में करवाने के निर्देश जारी किये।

1982 में पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ के मुकदमे में मजदूरों के हितों से संबंधित याचिका की सुनवायी करते हुए न्यायालय ने मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी न दिये जाने को बेगार की संज्ञा दी तथा इसे संविधान के अनुच्छेद 23 का उल्लंघन बताया। मुख्य न्यायाधीश भगवती ने स्पष्ट मत रखा कि लोकस स्टेंडाई की पारम्परिक व्यवस्था से निकल कर ऐसे उपाय करने चाहिए कि समाज के निम्नतम लोगों तक न्याय पहुँच सके। इसी प्रकार 1983 में बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने हरियाणा की पत्थर-खदानों में काम कर रहे सैकड़ों बंधुआ मजदूरों को मुक्त करवाने एवं उनकी पहचान करवा कर पुनर्वास की व्यवस्था के लिए हरियाणा सरकार को निर्देश जारी किये। वकील एम.सी. मेहता ने कई याचिकाएँ दायर कीं जिन पर न्यायालय ने कई आदेश जारी किये। इस संदर्भ में मोटर-गाड़ियों से होने वाले प्रदूषण, कारखाने से ओलियम गैस के रिसाव, मथुरा रिफ़ाइनरी से ताजमहल को ख़तरा, दिल्ली के रिज क्षेत्र की अवनति, चर्म-शोधन शालाओं एवं रासायनिक उद्योगों से होने वाले जल एवं वायु प्रदूषण आदि को लेकर न्यायालय ने आवश्यक दिशा-निर्देश जारी किये।

जन-हित याचिकाओं का सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि इसने कई तरह के नवीन अधिकारों को जन्म दिया। उदाहरण के लिए इसने तेज़ी से मुकदमे की सुनवाई का अधिकार, हिरासती यातना के विरुद्ध अधिकार, दासता के विरुद्ध अधिकार, यौन-उत्पीड़न के विरुद्ध अधिकार, आश्रय एवं आवास का अधिकार, गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार, स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, कानूनी सहायता प्राप्त करने का अधिकार, स्वास्थ्य सुरक्षा का अधिकार तथा ऐसे ही कई अन्य अधिकारों को स्थापित किया। उषेंद्र बख़्शी जैसे विद्वानों ने न्यायपालिका के इस योगदान को पुनर्लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के रूप में

देखा। लेकिन इन जन-हित याचिकाओं के कारण कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। इसकी वजह से न्यायालय के ऊपर काम का बोझ काफ़ी बढ़ गया। दूसरी तरफ़ न्यायालय ने कई बार ऐसे आदेश पारित कर दिये जिन्हें पूरा कर पाना कार्यपालिका के लिए काफ़ी कठिन था। इसके अलावा न्यायालय की इस भूमिका को शक्ति के पृथक्करण सिद्धांत के विरुद्ध भी बताया गया। इतना ही नहीं कुछ लोगों एवं संगठनों ने समाज में तुरंत लोकप्रियता हासिल करने के लिए जन-हित याचिका दायर करने को अपना व्यवसाय बना लिया जिससे जन-हित याचिका के निजी-हित याचिका में बदलने का खतरा उत्पन्न हो गया।

पिछले कुछ वर्षों से जन-हित याचिका को लेकर एक नया विवाद शुरू हो गया है। जन-हित याचिकाओं की शुरुआत अशिक्षित, शोषित एवं वंचित तबकों के लिए की गयी थी जो साधनहीन होने के कारण न्यायालय में स्वयं याचिका दायर करने में अक्षम थे। लेकिन पिछले कुछ सालों में न्यायालय के कई ऐसे निर्णय आये हैं जिसका ग़रीबों एवं वंचितों के जीवन एवं जीविका पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए 1990 के दशक में टेहरी जल विद्युत परियोजना एवं कोंकण रेलवे तथा 2000 में नर्मदा घाटी परियोजना के मुक़दमों में न्यायालय ने न्यायिक आत्मसंयम का ही प्रयोग किया। दिसम्बर 2001 में बालको इम्प्लॉयी यूनियन बनाम यूनियन ऑफ़ इण्डिया के केस में न्यायालय ने लोकस स्टैंडर्ड के प्रावधान को संकुचित करते हुए जन-हित याचिकाओं के लिए कई शर्तें निर्धारित कर दीं तथा सरकार की आर्थिक नीतियों में हस्तक्षेप करने से मना कर दिया। 2000 में एक जन-हित याचिका की सुनवाई करते हुए न्यायालय ने दिल्ली सरकार को सरकारी ज़मीन से झुग्गी-झोपड़ियों एवं अवैध कॉलोनियों को तथा वर्ष 2006 में यमुना किनारे बसे लोगों को हटाने के निर्देश जारी कर दिये। जबकि इससे पूर्व 1986 में ओल्गा टेलिस केस में न्यायालय ने सबको आवास मुहैया कराने को सरकार की ज़िम्मेवारी बतायी थी। इन्हीं कारणों से यह भी कहा जाने लगा है कि उदारिकरण के दौर में जन-हित याचिका को लेकर न्यायालय के दर्शन में काफ़ी बदलाव आ गया है।

देखें : नागरिकता, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारत में नागर समाज और ग्रैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में नागरिकता विमर्श-1 से 3 तक, संविधानवाद।

संदर्भ

1. एस.पी. साठे (2002), *जुडीशियल एक्टिविज़म इन इण्डिया : ट्रांसग्रेसिंग बॉर्डर्स ऐंड इनफ़ोर्सिंग लिमिट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
2. उपेंद्र बख्शी (1988), 'टेकिंग सफ़रिंग सीरियसली : सोशल एक्शन लिटिगेशन बिफ़ोर द सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इण्डिया', उपेंद्र

बख्शी (सम्पा.), *लॉ ऐंड पॉवर्टी : क्रिटिकल एसेज़*, त्रिपाठी प्रेस, बम्बई।

3. प्रशांत भूषण (2007), 'पब्लिक इन्टरेस्ट लिटिगेशन : सुप्रीम कोर्ट इन द ईरा ऑफ़ लिबरलाइज़ेशन', बी.डी. दुआ, एम.पी. सिंह एवं रेखा सक्सेना (सम्पा.), *इंडियन जुडिशियरी ऐंड पॉलिटिक्स : द चेंजिंग लैंडस्केप*, मनोहर, नयी दिल्ली।
4. परमानंद सिंह (2008), 'पब्लिक इन्टरेस्ट लिटिगेशन', उज्ज्वल सिंह वं कमला शंकरण (सम्पा.), *टूवर्ड्स लीगल लिटरेसी : एन इंट्रोडक्शन टू लॉ इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
5. अशोक एच. देसाई एवं एस. मुरलीधर (2000), 'पब्लिक इन्टरेस्ट लिटिगेशन : पोर्टेंशियल ऐंड प्रॉब्लम्स', (सम्पा.), बी.एन. कृपाल वगैरह, *सुप्रीम बट नॉट इनफ़ालेबिल : एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।

— इन्द्रजीत कुमार झा

जनता दल और उसकी विरासत-1

(कांग्रेस और भाजपा विरोध का आधार)

(Janta Dal and its Legacy-1)

भारत की राजनीति में जनता दल अपने आप में एक अनूठा प्रयोग रहा है। अपने गठन के दो साल बाद ही यह पार्टी केंद्र में अपनी सरकार बनाने में कामयाब रही। लेकिन सरकार बनाने के एक साल के भीतर ही इसमें विभाजन की शुरुआत भी हो गयी। नब्बे के दशक के आखिरी वर्षों तक 'जनता दल' नाम के किसी एकताबद्ध दल का भारतीय राजनीति में अस्तित्व नहीं रहा। लेकिन 2009 के लोकसभा चुनावों के समय भी इस प्रयोग की विरासत के वाहक समझे जा सकने वाले जनता दल (सेकुलर), जनता दल (यूनाइटेड), राष्ट्रीय जनता दल, बीजू जनता दल आदि जैसे कई दल चुनावी मैदान में थे। इन सभी का 1988 में गठित जनता दल से कोई-न-कोई जुड़ाव रहा है। इसके अलावा भारतीय राजनीति में कई दल भी हैं जिनके नाम के साथ जनता दल नहीं जुड़ा है, लेकिन ये भी जनता दल के विभाजित होने के बाद ही एक अलग राजनीतिक दल के रूप में उभर कर सामने आये। मसलन, हरियाणा में राष्ट्रीय लोकदल, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और बिहार में लोक जनशक्ति पार्टी। जनता दल प्रयोग ने भारतीय संसदीय राजनीति के जातिगत स्वरूप को बदलने और पिछड़ी जातियों के उभार में ज़बरदस्त भूमिका अदा की है। जनता दल का प्रयोग बताता है कि कैसे

एक राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं वाला दल बिखर कर राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्रीयकरण में योगदान कर सकता है। दरअसल, जनता दल का निर्माण और विविध दलों के रूप में इसका बिखराव भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। कांग्रेस और भाजपा का विरोध करने वाला यह प्रयोग तीसरे मोर्चे का स्थायी विकल्प देने में नाकाम रहा है। इससे अलग होकर बने अधिकांश दल उन समाजवादी मूल्यों का पालन करने में नाकाम रहे हैं जिन्हें वे अपना बुनियादी सिद्धांत घोषित करते रहे हैं। इसके अलावा अधिकांश मामलों में ये दल व्यक्ति-केंद्रित और परिवारवादी राजनीति का भी पर्याय बन गये हैं। फिर भी जनता दल और इससे टूटकर बने दलों ने राजनीति में पिछड़ी जातियों को नेतृत्व प्रदान करने की भूमिका निभायी है। इसके कारण राज्यों में कांग्रेस का प्रभाव खत्म हुआ और भाजपा को आगे बढ़ने से रोका जा सका।

आपातकाल के बाद 1977 में कुछ प्रमुख गैर-कांग्रेसी दलों ने जनता पार्टी का गठन किया था। 1977 के चुनावों में इसे पूर्ण बहुमत मिला और इसने सरकार भी बनायी। लेकिन 1980 आते-आते यह प्रयोग पूरी तरह विफल हो गया और जनता पार्टी कई भागों में विभाजित हो गयी। 1980 के लोकसभा चुनावों में इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस की वापसी हुई। 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद हुए चुनावों में कांग्रेस को ऐतिहासिक बहुमत मिला और राजीव गाँधी देश के प्रधानमंत्री बने। इन चुनावों में नाकामी के बाद विपक्षी दलों के हौसले काफ़ी पस्त थे। लेकिन 1987 आते-आते कांग्रेस सरकार की स्थिति खराब होने लगी। बोफोर्स तोप सौदे में खुद प्रधानमंत्री पर दलाली खाने का आरोप लगा। राजीव गाँधी सरकार के वित्त मंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने सरकार से इस्तीफ़ा दे दिया। वे धीरे-धीरे गैर-कांग्रेसी राजनीति की धुरी के रूप में उभरे। वी.पी. सिंह ने शुरुआत में जनमोर्चा का गठन किया। बाद में 11 अक्टूबर, 1988 को लोकदल, कांग्रेस (एस) और जनमोर्चा के विलय से जनता दल का गठन हुआ। इसमें एक ओर वी.पी. सिंह थे, तो दूसरी ओर देवीलाल और चंद्रशेखर जैसे नेता थे, जो लम्बे समय से गैर-कांग्रेसवाद की राजनीति कर रहे थे। जनता दल के गठन के कुछ महीने पहले ही सात दलों ने मिलकर राष्ट्रीय मोर्चा का गठन किया। जनता दल के गठन के बाद वह राष्ट्रीय मोर्चा का सबसे व्यापक आधार वाला दल बन गया। एन.टी. रामाराव राष्ट्रीय मोर्चा के अध्यक्ष बने और वी.पी. सिंह संयोजक। गैर-कांग्रेसवाद के नाम पर वामपंथी दलों और भाजपा ने राष्ट्रीय मोर्चे से मधुर संबंध रखे। भाजपा और जनता दल के बीच एक अघोषित समझौता हुआ। इन दोनों ने एक-दूसरे के खिलाफ़ 85 प्रतिशत ऐसे क्षेत्रों में उम्मीदवार खड़े नहीं किये जहाँ उन्हें लगा कि एक दूसरे के खिलाफ़ उम्मीदवार खड़ा करने से कांग्रेस को फ़ायदा होगा। राष्ट्रीय

मोर्चे की वाम मोर्चे के साथ भी इसी तरह की चुनावी समझ कायम हुई।

1989 के लोकसभा चुनावों के बाद कांग्रेस ही सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। उसे कुल 197 सीटों पर जीत मिली। जनता दल दूसरे सबसे बड़े दल के रूप में सामने आया। पूर्ण बहुमत न मिलने के कारण कांग्रेस ने सरकार बनाने से इनकार कर दिया जिससे यह मौक़ा जनता दल को मिला। उसके नेतृत्व वाले राष्ट्रीय मोर्चे ने भाजपा और वाम दलों के समर्थन से केंद्र में अपनी सरकार बनायी। प्रधानमंत्री पद के लिए जनता दल के भीतर काफ़ी खींचतान हुई। आख़िरकार देवीलाल के समर्थन से वी.पी. सिंह प्रधानमंत्री और देवीलाल उप-प्रधानमंत्री बने। लेकिन चंद्रशेखर ने शुरू में ही इस फ़ैसले के खिलाफ़ अपनी नाराज़गी ज़ाहिर कर दी। केंद्र में सरकार के अलावा बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में भी जनता दल की सरकार बनी। बहरहाल, वी.पी. सिंह की सरकार शुरू से ही कई तरह की मुश्किलों से घिरी रही। लोकसभा चुनावों में अपने प्रदर्शन से खुश भाजपा एक ओर राम मंदिर के मुद्दे को और ज़्यादा प्रमुखता से उठाना चाहती थी, वहीं पार्टी के भीतर देवीलाल का दबदबा वी.पी. सिंह के लिए परेशानी का सबब था। ऐसे में अगस्त 1990 में वी.पी. सिंह ने मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने का फ़ैसला किया।

गौरतलब है कि बिहार के पूर्व मन्त्री बिदेश्वरी प्रसाद मण्डल की अध्यक्षता वाले आयोग का गठन 1978 में जनता पार्टी की सरकार ने किया था। इसने सरकारी नौकरियों और शैक्षिक संस्थाओं में पिछड़ी जातियों के लिए साढ़े सत्ताईस प्रतिशत आरक्षण देने की सिफ़ारिश की थी। लेकिन 1980 में सत्ता में वापस आने पर इंदिरा गाँधी सरकार ने इस आयोग की सिफ़ारिशों को ठंडे बस्ते में डाल दिया। वी.पी. सिंह सरकार द्वारा सरकारी नौकरियों में इस आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने के फ़ैसले का ऊँची जाति के युवाओं ने तीखा विरोध किया। इस तरह के आरक्षण विरोधी आंदोलन ने पिछड़ी जातियों में भी अपने हक़ की चेतना बढ़ायी। इस बीच राम मंदिर बनाने के मुद्दे पर रथ-यात्रा पर निकले भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी को बिहार में लालू प्रसाद सरकार ने गिरफ़्तार करने का फ़ैसला किया। इस कारण भाजपा ने वी.पी. सिंह सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। दूसरी ओर चंद्रशेखर और उनके समर्थक सांसदों ने जनता दल से अपना नाता तोड़कर समाजवादी जनता पार्टी का गठन किया। कई राज्यों में जनता दल के प्रमुख नेता भी इसमें शामिल हो गये। उत्तर प्रदेश में जनता दल के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह चंद्रशेखर की पार्टी में चले गये। लोकसभा में अल्पमत में आने के कारण वी.पी. सिंह सरकार का पतन हो गया और कांग्रेस के समर्थन से चंद्रशेखर ने अपनी सरकार

बनायी। यह सरकार तकरीबन चार महीने तक ही चली। इसके बाद कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस लेने के कारण 1991 में मध्यावधि चुनाव हुए। 1991 के इन चुनावों में जनता दल का प्रदर्शन काफी खराब रहा और इसे 11.77 प्रतिशत वोटों के साथ 59 सीटों पर जीत मिली। खास तौर पर, बिहार, ओडीशा और कर्नाटक जैसे राज्यों में ही इसकी उपस्थिति रह गयी। उल्लेखनीय है कि चंद्रशेखर की पार्टी का इन चुनावों में कोई खास प्रदर्शन नहीं रहा।

चुनावों के बाद जनता दल और समाजवादी जनता पार्टी में बिखराव की शुरुआत हो गयी। मुलायम सिंह यादव ने चंद्रशेखर की पार्टी से अलग होकर 1992 में समाजवादी पार्टी की स्थापना की। जनता दल के टूटने की प्रक्रिया पहले से ही शुरू हो चुकी थी। गुजरात में जनता दल के नेता चिमनभाई पटेल मुख्यमंत्री थे। भाजपा द्वारा समर्थन वापस लेने के बाद उन्होंने 1990 में अपनी अलग पार्टी जतना दल (गुजरात) का गठन किया और आगे चल कर अपनी पूरी सरकार के साथ कांग्रेस में शामिल हो गये। 1995 में चरण सिंह के बेटे अजीत सिंह ने कई सांसदों के साथ अलग होकर जनता दल (अजीत) का गठन किया और केंद्र सरकार में मंत्री भी रहे। बाद में वे कांग्रेस में शामिल हुए और कई बार अपनी पार्टी बदली।

हरियाणा में चौधरी देवीलाल के बेटे ओम प्रकाश चौटाला ने भी समाजवादी जनता पार्टी से अलग होकर इण्डियन नेशनल लोक दल का निर्माण किया। इस पार्टी पर चौटाला परिवार का एकाधिकार है। यह हरियाणा में गैर-कांग्रेसी राजनीति करती है और केंद्र में इसने राजग सरकार को भी अपना समर्थन दिया। इसी तरह, बिहार में लालू प्रसाद यादव की राजनीति का विरोध करते हुए जॉर्ज फ़र्नांडिस और नीतीश कुमार ने 1994 में एक अलग पार्टी समता पार्टी का निर्माण किया। यह दल पूरी तरह से बिहार की राजनीति पर केंद्रित था। 1995 के बिहार विधान चुनावों में इस पार्टी ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के साथ गठजोड़ करके चुनाव लड़ा। पर इसे खास सफलता नहीं मिली। इसके बाद इस पार्टी ने बिहार में भाजपा से राजनीतिक गठजोड़ कर लिया। असल में बिहार में समता पार्टी का मुख्य रूप से कुर्मी-कोयरी और अन्य पिछड़ी जातियों में आधार था और भाजपा का ऊँची जातियों में प्रभाव था। इसलिए इस गठजोड़ से बिहार की राजनीति में दोनों को फ़ायदा हुआ। असल में सेकुलर विश्वसनीयता रखने वाले दलों में समता पार्टी ऐसा पहला दल था, जिसने भाजपा के साथ गठजोड़ किया। आगे चलकर यह पार्टी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ में भी शामिल हुई और राजग सरकार में इसके नेता मंत्री भी बने।

देखें : कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की

राजनीति, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन।

संदर्भ

1. योंगेन्द्र यादव (2002), 'कायापलट की कहानी : नया प्रयोग, नयी सम्भावनाएँ, नये अंदेशे', अभय कुमार दुबे (सम्पा), *लोकतंत्र के सात अध्याय*, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. संजय कुमार (1999), 'न्यू फ़ेज़ इन बैकवर्ड कास्ट पॉलिटिक्स इन बिहार : जनता दल ऑन द डिक्लाइन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 34, अंक 34-35.

— कमल नयन चौबे

जनता दल और उसकी विरासत-2

(क्षेत्रीयकरण और व्यक्तिवादी राजनीति)

(Janta Dal and its Legacy-2)

इन विभाजनों के बावजूद जनता दल बिहार, ओडीशा और कर्नाटक जैसे राज्यों में मज़बूत स्थिति में था। 1996 के लोकसभा चुनावों के बाद उसे कुल 46 सीटों पर जीत मिली। बहरहाल, इन चुनावों में किसी दल को बहुमत नहीं मिला। भाजपा सबसे बड़े दल के रूप में उभरी, लेकिन उसके पास अपने बलबूते पर सरकार बनाने का समर्थन नहीं था। इसलिए अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी भाजपा सरकार सिर्फ 13 दिनों तक ही शासन में रह पायी। इसके बाद, तीसरे मोर्चे की सरकार बनी, जिसे संयुक्त मोर्चा का नाम दिया गया। जनता दल के नेता और कर्नाटक के मुख्यमंत्री एच.डी. देवेगौड़ा इस सरकार में प्रधानमंत्री बने। कांग्रेस और माकपा ने इस सरकार को बाहर से समर्थन दिया। नौ महीने के भीतर कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस ले लिए जाने के कारण यह सरकार गिर गयी। बाद में, कांग्रेस ने जनता दल नेता इंद्र कुमार गुजराल के नेतृत्व वाली सरकार को अपना समर्थन दिया। यह सरकार भी सात महीने तक ही चल पायी। इस सरकार के गिरने के बाद 1998 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव हुए और उसके बाद भाजपा के नेतृत्व में सरकार बनी। यह सरकार 13 महीने तक ही सत्ता में रह पायी। 1999 में एक बार फिर से लोकसभा का मध्यावधि चुनाव हुआ और

इसमें भाजपा के नेतृत्व वाली राजग की जीत हुई और अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में सरकार बनी, जिसने अपना कार्यकाल पूरा किया।

असल में 1996-2004 तक का दौर जनता दल के लिए काफ़ी महत्वपूर्ण है। इस दौर में यह पार्टी बहुत से नय भागों में बँट गयी। ओडीसा (उस समय ओडीशा) में बीजू पटनायक जनता दल के कद्दावर नेता थे। 1990-95 के बीच उन्होंने यहाँ जनता दल की सरकार का नेतृत्व भी किया था। 1995 के विधानसभा चुनावों में जनता दल की हार हुई। 1997 में बीजू पटनायक की मृत्यु हो गयी। उनकी जगह उनके बेटे नवीन पटनायक अपने पिता के लोकसभा क्षेत्र से चुने गये। नवीन पटनायक ओडीशा में कांग्रेस को हराने के लिए भाजपा से गठजोड़ करना चाहते थे। लेकिन जनता दल के भीतर इसकी गुंजाइश न होने की स्थिति में उन्होंने 26 दिसम्बर, 1996 को बीजू जनता दल का गठन किया। बीजू जनता दल ने लोकसभा चुनावों में भाजपा से गठजोड़ किया और इस गठबंधन को अच्छी सफलता मिली। नवीन पटनायक केंद्र में खनन मंत्री भी रहे। 2000 में हुए राज्य विधानसभा चुनावों में इस गठजोड़ को बहुमत मिला और नवीन पटनायक राज्य के मुख्यमंत्री बने। इसके बाद इन्हें 2005 और 2010 के राज्य विधानसभा चुनावों में भी सफलता मिली। 2010 के राज्य विधानसभा चुनाव इसलिए महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं क्योंकि यह चुनाव बीजू जनता दल ने मुख्य रूप से अपने बूते पर जीता। इसने कंधमाल में हुए ईसाई विरोधी दंगों के कारण भाजपा से गठबंधन तोड़ लिया और वामदलों से गठजोड़ क्रायम किया। स्पष्टतः बीजू जनता दल एक सशक्त क्षेत्रीय दल के रूप में अपनी पहचान बनाने में सफल रहा है। इसकी सफलता के पीछे बीजू पटनायक की विरासत और नवीन पटनायक की स्वच्छ छवि की भी काफ़ी भूमिका रही है। यह सच है कि नवीन पटनायक के शासन काल में आदिवासी क्षेत्रों में जबरन खनन, भूमि अधिग्रहण और देशी-विदेशी कम्पनियों के प्रवेश के मुद्दे को लेकर बहुत से आंदोलन भी हुए हैं। इससे नवीन पटनायक की छवि को धक्का तो जरूर लगा है, लेकिन शासन के दूसरे आयामों में बेहतर प्रदर्शन और कमजोर विपक्ष होने के कारण राज्य में उनके राजनीतिक वर्चस्व को कोई ख़ास चुनौती नहीं मिली है।

देवेगौड़ा के प्रधानमंत्री बनने के बाद कर्नाटक जनता दल के भीतर संघर्ष भी बढ़ गया। इसका कारण यह था कि देवेगौड़ा राज्य की राजनीति में रामकृष्ण हेगड़े का वर्चस्व नहीं होने देना चाहते थे। हेगड़े काफ़ी वरिष्ठ नेता थे। उन्होंने इंदिरा गाँधी के दौर में राज्य में ग़ैर-कांग्रेसवाद की राजनीति की और कांग्रेस को सत्ता से बाहर किया और राज्य के मुख्यमंत्री (1983-85) बने। 1996 में देवेगौड़ा के कहने पर जनता दल के तत्कालीन अध्यक्ष लालू प्रसाद यादव ने हेगड़े

को पार्टी से बर्खास्त कर दिया। हेगड़े ने पार्टी से निकाले जाने के बाद लोक-शक्ति नामक पार्टी का गठन किया और भाजपा से गठबंधन करके 1998 को लोकसभा चुनाव लड़ा जिसमें इस गठजोड़ को अच्छी सफलता मिली। लेकिन बाद में 1999 में इस पार्टी का शरद यादव के नेतृत्व वाले जनता दल में विलय हो गया। 2003 में समता पार्टी से जनता दल के इस धड़े के विलय से जनता दल (एकीकृत) का गठन हुआ। 2004 में हेगड़े की मृत्यु के बाद उनके परिजन भाजपा में शामिल हो गये और उनकी राजनीतिक विरासत किसी स्वतंत्र पार्टी के रूप में क्रायम नहीं रह पायी।

1997 में जनता दल को एक अन्य विभाजन का सामना करना पड़ा। बिहार के मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव पर 1996 में हज़ारों करोड़ रुपये के चारा घोटाले का आरोप लगा। लालू पार्टी अध्यक्ष थे। लेकिन पार्टी अध्यक्ष के चुनाव में शरद यादव से हार गये। लालू को यह लगा कि वे जनता दल के भीतर रह कर अपने राजनीतिक वज़न का सही इस्तेमाल नहीं कर पायेंगे। इसलिए उन्होंने 1997 में राष्ट्रीय जनता दल (या राजद) का गठन किया। असल में, यह मुख्य रूप से लालू की व्यक्तिगत पार्टी ही रही है। दल में कोई नेता लालू की मर्जी के खिलाफ़ काम नहीं कर सकता। इसके गठन से लेकर अब तक लालू ही इसके अध्यक्ष रहे हैं। असल में, अपना अलग दल बनाकर लालू राज्य की राजनीति में अपना नियंत्रण क्रायम रखना चाहते थे। चारा घोटाले में जेल जाने की नौबत आने पर उन्होंने अपनी पत्नी राबड़ी देवी को मुख्यमंत्री बना दिया। 2000 के विधानसभा चुनावों के बाद भी राजद बिहार में अपनी सरकार बनाने में सफल रहा। इसे 2005 में राज्य की सत्ता से बाहर होना पड़ा और 2010 के विधानसभा चुनावों में इसकी हार हुई। लेकिन 2004 के लोकसभा चुनाव इसने कांग्रेस और रामविलास पासवान की पार्टी लोक-जनशक्ति पार्टी से मिल कर लड़ा। इसमें इसे अच्छी सफलता मिली और लालू पाँच वर्ष (2004-2009) तक रेल मंत्री रहे। बहरहाल, एक व्यक्ति या परिवार केंद्रित पार्टी होने के बावजूद लालू और राजद की बिहार की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने साम्प्रदायिक राजनीति का लगातार विरोध किया और पिछड़ी जातियों और ग़रीबों में राजनीतिक चेतना भरने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। दूसरी ओर बिहार के मुख्यमंत्री के रूप में प्रदेश के विकास और सुशासन पर ध्यान न दे पाने के कारण उनकी एक नकारात्मक छवि भी बनी है, जिसका लाभ नीतीश कुमार और उनके जनता दल (एकीकृत) को हुआ है।

जनता दल में 1999 में एक और विभाजन हुआ। कर्नाटक में तत्कालीन मुख्यमंत्री और जनता दल के नेता जे. एच. पटेल ने भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन को समर्थन देने का फ़ैसला किया। ऐसे

में एच. डी. देवेगौड़ा ने अपने समर्थकों के साथ मिलकर जनता दल (सेकुलर) पार्टी का गठन किया। यह पार्टी भी मुख्य रूप से एक परिवार-केंद्रित ही है। इसमें देवेगौड़ा के परिवार का वर्चस्व है। इसका गठन भाजपा विरोधी दल के रूप में हुआ। लेकिन इसके नेता और एच.डी. देवेगौड़ा के पुत्र एच.डी. कुमारस्वामी भाजपा की मदद से राज्य के मुख्यमंत्री बने (3 फ़रवरी, 2006-9 अक्टूबर, 2007)। यह पार्टी अब भी कर्नाटक की राजनीति में मौजूद है और 2013 के विधानसभा चुनावों में यह दूसरे सबसे बड़े दल के रूप में उभरी है। 1999 में जनता (सेकुलर) के निर्माण के बाद जनता दल के शेष बचे हिस्से ने जनता दल के विभिन्न घटकों को जोड़ने की कोशिश की। आखिरकार, समता पार्टी, जनता दल शेष बचे भाग और कर्नाटक की लोक शक्ति पार्टी ने मिलकर जनता दल (एकीकृत) या जद (यू) का गठन किया। रामविलास पासवान ने 2000 में जद (यू) से अलग होकर अपनी पार्टी लोक जनशक्ति पार्टी (लोजपा) का निर्माण किया। असल में राजद, जद (यू) और लोजपा- तीनों ही बिहार केंद्रित पार्टियाँ रही हैं और इन तीनों में क्रमशः लालू प्रसाद, नीतीश कुमार और रामविलास पासवान नेता हैं। ये तीनों बिहार के कद्दावर नेता हैं और एक तरह से नब्बे के बाद की बिहार की राजनीति में इनकी सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रही। 2004 के लोकसभा चुनावों में राजद-लोजपा और कांग्रेस के बीच चुनावी गठजोड़ था। इन चुनावों में इस गठजोड़ को ख़ासी सफलता मिली। लेकिन अक्टूबर, 2005 में हुए चुनावों में नीतीश के नेतृत्व में जद (यू) को बहुमत मिला। 2010 में नीतीश की जीत का आँकड़ा और भी ज़्यादा बढ़ गया। मुख्य बात यह है कि एक ही पार्टी के भीतर राजनीति करने वाले इन नेताओं ने बिहार की राजनीति के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही आयामों पर अपना दबदबा क़ायम कर लिया है।

जनता दल प्रयोग और उससे अलग होकर बने दलों के बारे में कुछ बातें स्पष्ट रूप से रेखांकित की जा सकती हैं: पहला, भारतीय राजनीति में जनता दल प्रयोग ग़ैर-कांग्रेसी राजनीति की बुनियाद पर तैयार हुआ। जिन दलों और व्यक्तियों ने मिलकर जनता दल का निर्माण किया था, वे पहले से ही ग़ैर-कांग्रेसी थे या उनमें से कुछ ने कांग्रेस छोड़कर ग़ैर-कांग्रेसी राजनीति शुरू की थी। वी.पी. सिंह सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने और उसके बाद हुए राजनीतिक घटनाक्रमों के भारतीय राजनीति पर बहुत गहरे प्रभाव पड़े। इसने उत्तर भारत के कई राज्यों में पिछड़ी जातियों के उभार की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। राजनीति में लालू प्रसाद यादव, मुलायम सिंह यादव, नीतीश कुमार, शरद यादव जैसे नेता सिर्फ़ राज्यों में ही नहीं बल्कि केंद्र की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाने लगे। दूसरा, ग़ैर-कांग्रेसी राजनीति के कारण जनता दल ने 1989

के चुनावों के बाद केंद्र में भाजपा की मदद से सरकार बनायी। बाद में, जनता दल से बाहर निकले कई नेताओं ने भी भाजपा से राजनीतिक सहयोग किया। इसके बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। जॉर्ज फ़र्नांडिस, शरद यादव, ओमप्रकाश चौटाला, रामकृष्ण हेगड़े जैसे नेताओं ने भाजपा से चुनावी तालमेल किया और इनके दल भाजपा के नेतृत्व वाली केंद्र सरकार में भागीदार भी हुए। तीसरा, नब्बे के दशक में साम्प्रदायिकता एक बहुत बड़े मुद्दे के रूप में उभरकर सामने आयी। इसका एक नतीजा यह हुआ कि जनता दल से बाहर निकले कुछ दलों और नेताओं ने भाजपा की राजनीति का तीखा विरोध किया। इस तरह के नेताओं में लालू प्रसाद यादव और मुलायम सिंह यादव का नाम लिया जा सकता है। चौथा, आम तौर पर, जनता दल के टूटने के बाद बने अधिकांश दल किसी विशेष नेता और उसके परिवार के आस-पास केंद्रित हो कर रह गये। मसलन, राजद (लालू यादव), समाजवादी पार्टी (मुलायम सिंह यादव), जनता दल (सेकुलर) (एच.डी. देवेगौड़ा), बीजू जनता दल (नवीन पटनायक), लोक जनशक्ति पार्टी (रामविलास पासवान), इण्डियन नैशनल लोकदल (ओम प्रकाश चौटाला) जैसे दल अपने नेता और उसके परिवार की राजनीति तक केंद्रित है। जद (यू) स्पष्ट रूप से परिवार-केन्द्रित पार्टी नहीं है, लेकिन यह भी मुख्य रूप से नीतीश कुमार पर ही निर्भर है। चौथा, जतना दल से अलग होकर निकले तमाम दल मुख्य रूप से एक राज्य तक ही सीमित है। मसलन, बीजू जनता दल ओडीशा तक सीमित है, राजद बिहार तक और इण्डियन नैशनल लोकदल हरियाणा तक। दूसरे दलों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। समाजवादी पार्टी जैसे दल का महाराष्ट्र जैसी जगह पर भी थोड़ा बहुत प्रभाव है, लेकिन यह मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश तक सीमित पार्टी ही है। पाँचवा, जनता दल से अलग होकर बने अधिकांश दलों ने खुद को कांग्रेस या भाजपा जैसे दलों से जोड़ लिया है। बीजू जनता दल या समाजवादी पार्टी जैसे दलों ने अपने दम पर राजनीति करने की कोशिश की है, लेकिन ये तीसरे मोर्चे की गठन की दिशा में कोई ख़ास पहल करने में नाकाम रहे हैं। दूसरे राज्यों में इनका बहुत ज़्यादा प्रभाव नहीं है।

देखें : कांग्रेस 'प्रणाली', ग़ैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन।

संदर्भ

1. विपिन कुमार मेहता (2013), *जनता दल : उद्भव एवं पराभव*, राज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. कमल नयन चौबे (2008), *जातियों का राजनीतीकरण : बिहार में पिछड़ी जातियों के उभार की दास्तान*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

जम्मू और कश्मीर

(Jammu and Kashmir)

भारत के सबसे उत्तरी भाग में स्थित और हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं से घिरा हुआ जम्मू और कश्मीर राज्य ऐतिहासिक कारणों से भारतीय राजनीति की एक अनसुलझी समस्या बना हुआ है। भारतीय संविधान में अनुच्छेद 370 के अंतर्गत कश्मीर के लिए विशेष प्रावधान हैं। इसके अनुसार रक्षा संचार और विदेश मामलों के अलावा भारतीय संसद द्वारा बनाया गया कोई भी कानून जम्मू और कश्मीर की विधानसभा की पुष्टि के बिना इस राज्य पर लागू नहीं होगा। देश के दूसरे भागों के लोगों को यहाँ सम्पत्ति खरीदने या बसने की इजाजत नहीं है। इसके अलावा यह भारत का एकमात्र ऐसा राज्य है जिसका अपना झंडा और संविधान है। स्वतंत्र भारत में जम्मू और कश्मीर का इतिहास और राजनीति काफी उथल-पुथल से भरी रही है। इसे दो भागों में बाँटकर अच्छी तरह समझा जा सकता है : पहला, 1947 से 1990 तक का दौर और दूसरा 1990 के बाद का दौर। गौरतलब है कि मार्च, 1965 तक कश्मीर के शासक प्रमुख के लिए वजीरे-आज़म (या प्रधानमंत्री) शब्द का प्रयोग किया जाता था। बाद में मुख्यमंत्री शब्द का प्रयोग होने लगा। आज़ादी के बाद के दौर में भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर एक निरंतर विवाद का विषय बना रहा है। इस कारण भारत और पाकिस्तान में 1947 के अलावा 1965 और 1999 में युद्ध भी हो चुका है।

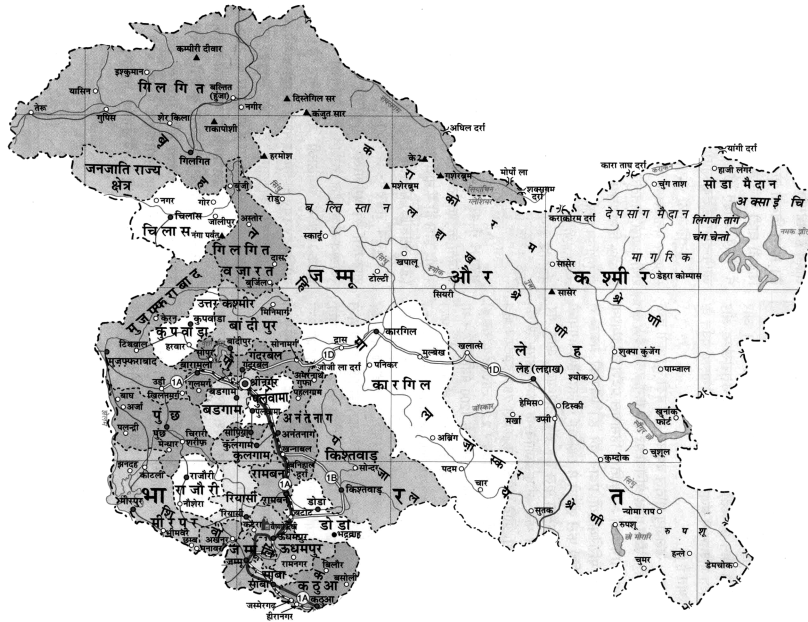
हिंदू पुराणों में कश्मीर का उल्लेख मिलता है। व्यापारिक मार्ग से जुड़े होने के कारण यह एक समृद्ध क्षेत्र था। सम्राट अशोक और कनिष्क के दौर में यहाँ बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। मध्य एशिया और चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार में कश्मीरियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। चौदहवीं सदी में कश्मीर में मुसलिम शासन स्थापित हुआ और अकबर के दौर में यह मुगलों के अधीन आ गया। 1752 में कश्मीर अफ़ग़ानों के नियंत्रण में आया। 1819 में सिक्खों ने अफ़ग़ानों से कश्मीर को छीन लिया। 1846 में जम्मू के शासक गुलाब

सिंह की मदद से अंग्रेज़ों ने कश्मीर को अपने क़ब्ज़े में ले लिया। गुलाब सिंह को यहाँ के शासन की जिम्मेदारी दे दी गयी और इस तरह यह अंग्रेज़ों का रजवाड़ा बन गया। भारत की आज़ादी के संघर्ष के दौरान यहाँ भी नैशनल काँग्रेस के नेतृत्व में राजा और अंग्रेज़ों के खिलाफ़ आंदोलन चला। नैशनल काँग्रेस का गठन 1932 में शेख़ अब्दुल्ला और उनके कुछ राजनीतिक सहयोगियों द्वारा किया गया था। उस समय इसका नाम मुसलिम काँग्रेस था। 1938 में इसे बदल कर नैशनल काँग्रेस कर दिया गया। शेख़ अब्दुल्ला के कांग्रेस के नेताओं से नजदीकी संबंध थे।

आज़ादी और बँटवारे के बाद जम्मू और कश्मीर की स्थिति अनिश्चित बन गयी। 1947 में विभाजन के साथ यह शर्त भी जोड़ी गयी कि रजवाड़ों के शासकों को भारत या पाकिस्तान में मिलने या स्वतंत्र रहने की आज़ादी होगी। 1947 में इस राज्य की जनसंख्या का 77 प्रतिशत हिस्सा मुसलमानों का था। यहाँ के शासक हरी सिंह कश्मीर को एक स्वतंत्र राज्य बनाना चाहते थे। लेकिन पाकिस्तान की तरफ़ से हुए क़बायली हमले के कारण उन्होंने 25 अक्टूबर, 1947 को इस राज्य के भारत में विलय का फ़ैसला किया। हमले के कारण पाकिस्तान को कश्मीर के एक बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा करने का मौक़ा मिल गया। भारतीय सेनाओं ने उन्हें यहाँ से निकालने की कोशिश की, लेकिन ठंड का मौसम शुरू हो जाने के कारण वे अपने अभियान को पूरा नहीं कर पाये और यह हिस्सा पाकिस्तान के क़ब्ज़े में बना रहा। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र को आज़ाद कश्मीर कहता है और भारत अधिकृत कश्मीर।

भारत इस मसले को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दोनों देशों द्वारा यह क्षेत्र ख़ाली करने और वहाँ जनमत संग्रह कराने का प्रस्ताव पारित किया। लेकिन भारत या पाकिस्तान किसी ने भी अपनी सेना कश्मीर से नहीं हटायी। भारत ने शुरू में जनमत संग्रह का समर्थन किया। लेकिन फिर उसने इस प्रस्ताव को निरर्थक घोषित कर दिया। इसका कारण यह था कि 1952 में जम्मू और कश्मीर की चुनी हुई संविधान सभा ने कश्मीर के भारत में विलय की पुष्टि कर दी। इसके अलावा भारत की ओर से यह तर्क भी दिया गया कि पाकिस्तानी क़ब्ज़े वाले कश्मीर में पाकिस्तान के दूसरे भागों से लोग बस चुके हैं। इस कारण यहाँ की जनसंख्या की रूपरेखा बदल गयी है। इस समय औपनिवेशिक दौर के जम्मू और कश्मीर का साठ प्रतिशत हिस्सा भारत के पास है (जम्मू, कश्मीर घाटी और लद्दाख़), 30 प्रतिशत पाकिस्तान के पास (गिलगिल-बाल्टिस्तान और आज़ाद कश्मीर) तथा 10 प्रतिशत चीन के पास है (अक्साईचिन)।

दक्षिण में जम्मू और कश्मीर की सीमाएँ पंजाब और हिमाचल प्रदेश से लगी हुई हैं। इसके उत्तर और पूर्व में चीन



जम्मू और कश्मीर : संविधान के अनुच्छेद 370 के तहत विशेष दर्जा

स्थित है। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में क्रमशः पाकिस्तान प्रशासित 'आजाद' कश्मीर और गिलगित-बाल्टिस्तान स्थित हैं। जम्मू और कश्मीर तीन क्षेत्रों से मिलकर बना है : जम्मू, कश्मीर और लद्दाख। कश्मीर यहाँ की ग्रीष्मकालीन और जम्मू शीतकालीन राजधानी है। पहाड़ों के बीच बसी कश्मीर घाटी अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है। जम्मू में बहुत सारे हिंदू धार्मिक स्थल हैं जो तीर्थ यात्रियों के लिए आकर्षण का केंद्र हैं। लद्दाख को 'छोटे तिब्बत' के रूप में जाना जाता है। यह बौद्ध संस्कृति के केंद्र के रूप में प्रसिद्ध है। जम्मू और कश्मीर का कुल क्षेत्रफल 2,22, 236 वर्ग किमी है। क्षेत्रफल के अनुसार यह भारत का सबसे बड़ा राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 12,548,926 है। इस हिसाब यह भारत का अठारहवाँ सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ से लोकसभा के कुल छह और राज्यसभा के चार सदस्य चुने जाते हैं। 2011 की जनगणना के मुताबिक यहाँ कि साक्षरता दर 67.7 प्रतिशत है और साक्षरता के हिसाब से भारत में इसका इक्कीसवाँ स्थान है। यहाँ का उच्च न्यायालय श्रीनगर में स्थित है। उर्दू, कश्मीरी और डोगरी यहाँ की राजकीय भाषाएँ हैं।

कश्मीर के भारत में विलय के वक्त शेख अब्दुल्ला यहाँ सबसे लोकप्रिय नेता थे। लेकिन भारत के केंद्रीय नेताओं के साथ उनके संबंध बनते-बिगड़ते रहे। कई बार उनकी गतिविधियों को शक की निगाह से देखा गया। उन्हें लम्बे समय तक जेल में या नज़रबंद भी रहना पड़ा। 1982 में अपने देहांत तक वे तीन बार राज्य के वज़ीरे-आज़म / मुख्यमंत्री रहे (मार्च, 1948-अगस्त 1953, फ़रवरी,

1975-मार्च, 1977, जुलाई, 1977-सितम्बर, 1982)। इस दौर में वे 1953-1964 तक जेल में रहे, 1965-1968 तक उन्हें नज़रबंद रखा गया और फिर 1971 में 18 महीनों के उनके कश्मीर आने पर पाबंदी लगा दी गयी। दरअसल शेख अब्दुल्ला के विचारों में भी कई दफ़ा बदलाव आया और वे कश्मीर में जनमत संग्रह के समर्थक भी बन गये। इसी कारण उन्हें दिल्ली की कई सरकारों की नाराज़गी का सामना करना पड़ा। 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के बाद शेख अब्दुल्ला के नज़रिये में बदलाव आया। 1974 में उनके और इंदिरा गाँधी के बीच समझौता हुआ। इसके अनुसार अब्दुल्ला ने कश्मीर में जनमत संग्रह की माँग छोड़ दी और वे संसदीय राजनीति में शामिल हो गये। इसके बाद हुए वे दो

बार राज्य के मुख्यमंत्री रहे। गौरतलब है कि 1947-1982 के बीच शेख अब्दुल्ला के अलावा कांग्रेस के मेहरचंद महाजन (अक्टूबर, 1947-मार्च, 1948), गुलाम मोहम्मद सादिक (मार्च, 1965-दिसम्बर, 1971) और सैयद मीर क़ासिम (दिसम्बर, 1971-फ़रवरी, 1975) तथा (नैशनल काँग्रेस के बख़्शी गुलाम मोहम्मद) (अगस्त, 1953-अक्टूबर, 1963), ख़्वाजा शम्सुद्दीन (अक्टूबर, 1963-फ़रवरी, 1964) जम्मू और कश्मीर के प्रधानमंत्री / मुख्यमंत्री रहे।

शेख अब्दुल्ला की मौत के बाद उनके बेटे फ़ारूक अब्दुल्ला राज्य के मुख्यमंत्री बने। 1984 में अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त कर कांग्रेस समर्थक गुलाम मोहम्मद शाह को मुख्यमंत्री बनाया गया। 1986 में अब्दुल्ला और कांग्रेस में गठजोड़ हो गया। इसलिए शाह की जगह अब्दुल्ला फिर से मुख्यमंत्री बन गये। 1987 में राज्य विधानसभा के चुनाव हुए। इसमें कांग्रेस-नैशनल काँग्रेस नेतृत्व को जीत मिली। लेकिन विपक्षी दलों ने इन चुनावों में धाँधली के आरोप लगाये। इसने राज्य में व्यापक विरोध को जन्म दिया। इसी समय अलगाववादी आंदोलन की शुरुआत भी हुई। दरअसल, कांग्रेस के नेतृत्व वाली केंद्र सरकार द्वारा यहाँ की राजनीति में बार-बार ग़लत तरीक़े से हस्तक्षेप और जोड़-तोड़ से लोग तंग आ चुके थे। इसी कारण 1987 के चुनावों के बाद उन्होंने खुलकर दिल्ली के दख़ल का विरोध किया।

1990 के दशक के बाद की राजनीति जम्मू और कश्मीर में साम्प्रदायिक विभाजन, हिंसक और अहिंसक अलगाववादी आंदोलन तथा सेना की दमनकारी कार्रवाइयों की गवाह बनी। इस दौर में राज्य की राजनीति की प्रमुख

पहलुओं को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : पहला, संसदीय राजनीति में मुख्य रूप से नैशनल काँग्रेस, कांग्रेस और 1999 में गठित पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी का दबदबा रहा है। इस दौर में फ़रूक अब्दुल्ला (अक्टूबर, 1996-अक्टूबर, 2002), मुफ़्ती मोहम्मद सईद (नवम्बर, 2002-नवम्बर, 2005) और गुलाम नबी आज़ाद (नवम्बर, 2005-जुलाई, 2008) और उमर अब्दुल्ला (जनवरी, 2009) राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके अलावा राज्य में अलगाववादी गतिविधियों (1990-1996) और राजनीतिक गतिरोध के कारण (18 अक्टूबर, 2002-2 नवंबर, 2002, 11 जुलाई, 2008-3 जनवरी, 2009) कई बार राष्ट्रपति शासन भी लागू रहा। दूसरा, राज्य में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति को भी बढ़ावा मिला। इसके कारण 1990 में कश्मीरी पण्डितों को श्रीनगर छोड़ना पड़ा। दूसरी ओर, भाजपा ने जम्मू में हिंदू ध्रुवीकरण की राजनीति को बढ़ावा दिया। कई बार धर्म के आधार पर राज्य को तीन भागों में बाँटने की भी माँग की गयी। तीसरा, राज्य में पाकिस्तान प्रायोजित समूहों के द्वारा हिंसक पृथकतावादी राजनीति को भी बढ़ावा दिया गया। ख़ासतौर पर 1990-96 के दौर में यह राजनीति अपने चरम पर रही। चौथा, राज्य में हुर्रियत काँग्रेस के नेतृत्व में ऐसी राजनीतिक शक्तियाँ एकजुट हुईं जो लोकतांत्रिक तरीक़े से भारत से अलग होने की माँग कर रही थीं। ऑल पार्टी हुर्रियत काँग्रेस का गठन 1992 में हुआ। बाद में, यह नरमपंथी और गरमपंथी धड़े में बँट गया। गरमपंथी धड़े का नेतृत्व सैयद अली शाह गिलानी के हाथों में है। वे इस्लामिक राष्ट्रवाद के आधार पर कश्मीर को भारत से अलग करना चाहते हैं। नरमपंथी धड़े का नेतृत्व मौलवी उमर फ़ारूक के हाथों में है। यह धड़ा भी स्वतंत्रता की माँग करता है लेकिन यह कई मध्यवर्ती उपायों की भूमिका को स्वीकार करता है।

कई बार यह कहा जाता है कि 1996 में लोकतांत्रिक प्रक्रिया शुरू हो जाने के बाद जम्मू और कश्मीर में आतंकवादियों की हिंसा में कमी आयी है। इस तर्क को स्वीकारने के बावजूद यह रेखांकित करने की ज़रूरत है कि अभी भी कश्मीर में अलगाववादी समूहों को बहुत ज़्यादा समर्थन प्राप्त है। सेना की ज़बरदस्त मौजूदगी, आर्म्ड फ़ोर्स स्पेशल पॉवर्स एक्ट (आफ़्सपा) लागू होने के कारण सेना द्वारा की जाने वाली ज़्यादातियों के खिलाफ़ लोगों का गुस्सा कई मौकों पर सामने आ जाता है। मसलन, 2010 की गर्मियों में कश्मीर घाटी को इस तरह की हिंसा का सामना करना पड़ा था। कश्मीर की स्थिति एक ऐसे राज्य का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ लोगों को अभी तक अपनी लोकतांत्रिक आंकाक्षाओं को अभिव्यक्ति करने का मौक़ा नहीं मिला है। भारत में कश्मीर के विलय के बाद से ही दिल्ली ने यहाँ की राजनीति में लगातार दख़ल दिया है। यह दख़ल सेना को अनियंत्रित

शक्ति देने से लेकर चुनावी धाँधली के रूप में सामने आया है। इसके कारण स्थानीय लोगों में अलगाव की भावना बढ़ी है, जिसे दूर करने के लिए बहुत कुछ किया जाना बाक़ी है।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गोवा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, बिहार, पंजाब, पश्चिम बंग, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, राजस्थान, हरियाणा।

संदर्भ

1. अरविंद मोहन (सम्पा.) (2009), *लोकतंत्र का नया लोक: चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. पृथ्वी नाथ कौल (1962), *अ हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर*, मेट्रोपॉलिटन, नयी दिल्ली.
3. गौतम नवलखा (2008), 'रिज़ेंटमेंट परसिस्ट इन कश्मीर', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 43, अंक 6.

— कमल नयन चौबे

जय प्रकाश नारायण

(Jay Prakash Narayan)

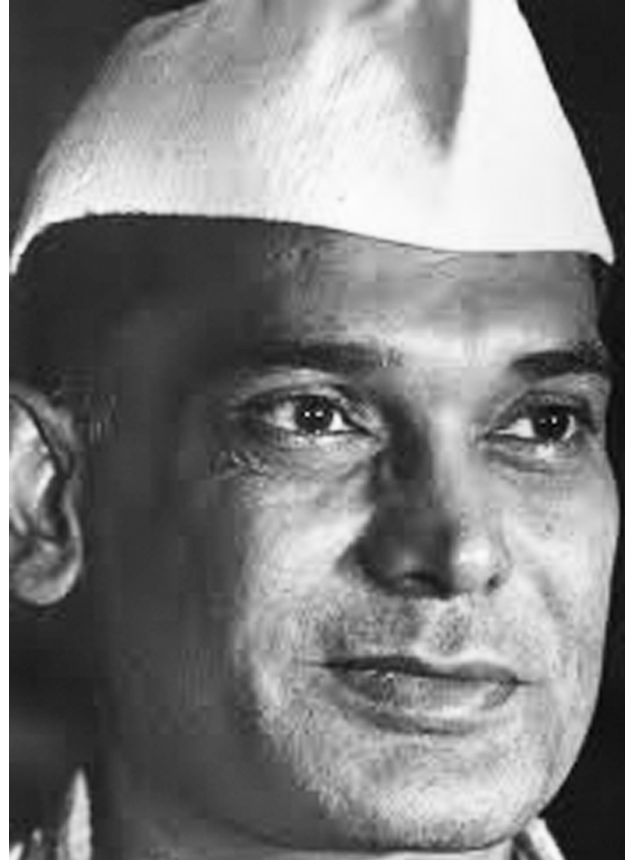
उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के प्रमुख योद्धाओं में से एक, भारत के समाजवादी आंदोलन के शीर्ष नेता और सिद्धांतकार जय प्रकाश नारायण (1902-1979) के विचारों और जीवन का अध्ययन किये बिना स्वातंत्र्योत्तर भारत का राजनीतिक-सामाजिक चित्र बनाना नामुमकिन है। जेपी अंग्रेज़ों के खिलाफ़ संघर्ष के दौरान कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं में से एक थे। शुरू में वे मार्क्सवाद से प्रभावित थे, और कुछ मसलों पर गाँधी की आलोचना करते थे, लेकिन बाद में उनके रुझान गाँधीवादी होते चले गये। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भूमिगत विद्रोही कार्यवाइयों के कारण जेपी अपने जीवन में ही किंवदंती बन गये। इस संघर्ष ने उन्हें जनता और कार्यकर्ताओं के बीच लोकनायक की उपाधि दिलवायी। स्वतंत्रता के बाद उन्होंने कांग्रेस छोड़ कर समाजवादी आंदोलन का नेतृत्व किया, हालाँकि वे खुद कभी चुनाव नहीं लड़े। पचास के दशक में ही उन्होंने जनता की सीधी भागीदारी वाले लोकतंत्र और रैंडिकल विकेंद्रीकरण के पक्ष में अपने सूत्रीकरण पेश किये जिनके ऊपर साठ के दशक में बुद्धिजीवियों के बीच बहस हुई। सक्रिय राजनीति से मोह-भंग हो जाने के बाद उन्होंने सर्वोदय का दामन थामा। जेपी के जुड़ाव का परिणाम यह निकला कि सर्वोदय के साथ कई

बुद्धिजीवी जुड़े। उन्होंने साठ के दशक में बनारस में गाँधी अध्ययन संस्थान की स्थापना की और 'स्माल इज़ ब्यूटीफुल' जैसा नारा देने वाले फ्रिट्ज़ शूमाकर को उसका निदेशक बनने के लिए निमंत्रित किया। हालाँकि शूमाकर भारत नहीं आ पाये, पर इस संस्थान के बहुअनुशासनीय अध्ययन कार्यक्रम पर उनकी छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती थी।

बिहार के एक गाँव सिताबदियारा में 11 अक्टूबर, 1902 को पैदा हुए जय प्रकाश नारायण ने एक घटनाप्रद जीवन जिया। नौ साल की उम्र में उन्हें पटना के एक स्कूल में दाखिल कराया गया जहाँ वे एक प्रतिभाशाली और परिश्रमी छात्र साबित हुए। 18 वर्ष की आयु में उनका विवाह प्रभावती से हुआ। उपनिवेशवादी आंदोलन के प्रभाव में उन्होंने पटना कॉलेज छोड़ कर कांग्रेस द्वारा स्थापित बिहार विद्यापीठ में पढ़ना पसंद किया। 1922 में अपनी पत्नी को गाँधीजी के आश्रम में छोड़ कर जेपी उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका गये जहाँ उन्हें काफ़ी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विसकोंसिन विश्वविद्यालय के प्रगतिशील माहौल में उन्होंने मार्क्स, लेनिन, ट्रॉट्स्की, प्लेखानोव और रोज़ा लक्सेमबर्ग की रचनाओं का गहन अध्ययन किया। अमेरिका में उन्हें एक स्नातकोत्तर छात्रवृत्ति भी मिली। मानवेंद्र नाथ राय का भारत संबंधी लेखन पढ़ने के बाद जेपी खुद को मार्क्सवादी मानने लगे। सात साल अमेरिका में रहने के बाद जेपी 27 वर्ष की उम्र में भारत लौटे। इस बीच अपने आश्रम में रह रही प्रभावती को बापू ने ब्रह्मचर्य की शपथ दिला दी थी, जिसका भारत लौटने पर जेपी ने पूरा सम्मान किया।

गाँधी से मिलने वर्धा जाने पर जेपी की मुलाकात जवाहरलाल नेहरू से हुई। नेहरू ने उन्हें इलाहाबाद आ कर कांग्रेस के लेबर रिसर्च डिपार्टमेंट का चार्ज सँभालने के लिए कहा। हालाँकि जेपी मार्क्सवादी थे, और उस नाते गाँधी से उनकी काफ़ी असहमतियाँ थीं, लेकिन उन्हें उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में कम्युनिस्टों की कांग्रेस विरोधी भूमिका पसंद नहीं आयी। उन्होंने कांग्रेस का साथ देने का निर्णय किया और राष्ट्रवादी आंदोलन में कूद पड़े। 1932 के दूसरे असहयोग आंदोलन में कांग्रेस के महामंत्री के रूप में उन्होंने उस समय सारे देश में संघर्ष का संचालन किया जब गाँधी और नेहरू समेत कई वरिष्ठ कांग्रेसी नेता जेल में डाल दिये गये थे। आखिर में जेपी भी गिरफ्तार हुए और नासिक जेल में उनकी मुलाकात मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, एन.सी. गोरे, अशोक मेहता, एम.एच. दाँतवाला वगैरह से हुई। इन नेताओं से हुए विचार-विमर्श का परिणाम कांग्रेस के भीतर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के गठन में निकला।

1942 में जब गाँधी ने अंग्रेज़ो भारत छोड़ो का नारा दिया तो उस समय जेपी हजारीबाग जेल में थे। वे जेल की



जय प्रकाश नारायण (1902-1979)

दीवारों फाँद कर भाग निकले। गाँधी की रणनीति के विपरीत जेपी पहले भी उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में हथियारों के इस्तेमाल के पूरी तरह से विरोधी नहीं थे। जेल से भाग कर वे नेपाल पहुँचे और आज़ाद दस्ते का गठन किया। ब्रिटिश सरकार की मशीनरी ठप्प करने के लिए जेपी के नेतृत्व में कई क्रांतिकारी कार्रवाइयाँ की गयीं। उन्हें दोबारा सितम्बर, 1943 में पंजाब में एक चलती ट्रेन में पकड़ा गया। जेपी को लाहौर के किले में बंदी बना कर रखा गया और काफ़ी यातनाएँ दी गयीं। गाँधी ने कैबिनेट मिशन के सामने शर्त रखी कि जब तक जेपी और डॉ. लोहिया को रिहा नहीं किया जाएगा तब तक वे वार्ता शुरू नहीं करेंगे। अप्रैल, 1946 में जब ये दोनों रिहा हुए तो पराक्रमी नायकों की तरह उनका जन-अभिनंदन किया गया। आज़ादी के बाद जेपी ने सोशलिस्ट पार्टी की बागडोर सँभाली, लेकिन चुनावी राजनीति से जल्दी ही उनका मोह-भंग हो गया। इसके बाद वे कई वैचारिक मक्रामों से गुज़रे जिनका विश्लेषणात्मक वर्णन उन्होंने खुद अपनी आत्मकथा *मेरी विचार-यात्रा* में किया है।

1970 की शुरुआत में जेपी ने मुसहरी (बिहार) में ग्रामदान का प्रयोग किया। रैडिकल वामपंथियों का आरोप है कि उनकी यह कार्रवायी नक्सलवादी आंदोलन का शमन करने के लिए की गयी थी। बहरहाल, उनका यही अनुभव

उन्हें सर्वोदय आंदोलन के राजनीतीकरण की तरफ ले गया जिससे एक तरफ तो सर्व सेवा संघ में विभाजन हो गया, और दूसरी तरफ जेपी की राजनीति में ऐतिहासिक वापिसी हुई। इसी दौरान चम्बल घाटी के दस्युओं से हथियार डलवा कर जेपी ने इतिहास बनाया। जीवन के अंतिम दौर में स्वास्थ्य खराब होने के बावजूद उन्होंने गैर-कम्युनिस्ट व गैर-कांग्रेसी राजनीतिक शक्तियों का नेतृत्व करते हुए राजनीतिक प्रणाली में आमूलचूल सुधार करने के लिए सम्पूर्ण क्रांति का नारा दिया। जेपी के नेतृत्व में चले बिहार आंदोलन के जुझारू तेवरों के कारण इंदिरा गाँधी को अपनी सरकार बचाने के लिए देश पर आपातकाल थोपना पड़ा।

सुंदर व्यक्तित्व और प्रभावशाली वक्तृता व लेखन के धनी जय प्रकाश नारायण का चिंतन हमेशा लोकतंत्र और राष्ट्रवाद से जुड़ी समस्याओं पर केंद्रित रहा। उनकी निगाह राष्ट्र और लोकतंत्र के बीच अन्योन्यक्रिया पर जमी रही। सरकार के कामकाज का मूल्यांकन उन्होंने हमेशा उसकी जन-वैधता के आईने में किया। प्रातनिधिक लोकतंत्र का प्रचलित स्वरूप उनके लिए अपने आप में कभी पर्याप्त नहीं रहा। इसीलिए उनके राजनीतिक कार्यक्रम के केंद्र में लोकतांत्रिक जन-इच्छा साकार करने का उद्देश्य दिखाई देता है। छात्रों और नौजवानों को वे अपनी राजनीति के हरावल दस्ते की तरह देखते थे। 1977 में जेपी की देख-रेख में विपक्षी दलों ने एकताबद्ध होकर जनता पार्टी का निर्माण किया जो कांग्रेस को हरा कर दिल्ली में पहली गैर-कांग्रेस सरकार बनायी। जेपी सत्ता परिवर्तन के वाहक तो बने, लेकिन उन्होंने जीवन भर खुद को सत्ता और सरकार से दूर रखा। नेहरू ने उन्हें अपनी सरकार में शामिल होने का निमंत्रण दिया था, जिसे जेपी ने यह कह कर ठुकरा दिया था कि उनकी सरकार गाँधीवादी कार्यक्रम के प्रति संवेदनशील नही है।

एक समाजवादी चिंतक के रूप में जेपी के विचार न तो गाँधीवादी खाने में डाले जा सकते हैं, न ही उन्हें उदारतावाद या मार्क्सवाद की श्रेणी में रखा जा सकता है। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सिद्धांतकार के तौर पर 1936 में वे खुद को कांग्रेस और गाँधी से अलग करते हुए नज़र आते हैं। चुनाव पर आधारित लोकतंत्र को वे जन-इच्छा का प्रतिबिम्ब नहीं मानते। चुने हुए प्रतिनिधियों के जरिये खड़े किये गये लोकतांत्रिक ढाँचे पर उन्हें यकीन नहीं है। वे आह्वान करते हैं कि सभी तरह की सत्ता सीधे-सीधे जनता के हाथों में होनी चाहिए। जनता से उनका तात्पर्य उन तमाम लोगों से है जो शारीरिक या बौद्धिक परिश्रम करके समाज के लिए उत्पादन की ज़िम्मेदारी निभाते हैं। इस मक़ाम पर जेपी 'कथित यूनानी लोकतंत्रों' के अनुभव को भी सही तौर पर जनोन्मुख मानने के लिए तैयार नहीं हैं। जाहिर है कि प्रत्यक्ष लोकतंत्र की ये मिसालें भी जेपी को सीमित लगती हैं। उनके

सामने प्रश्न यह है कि अंग्रेज़ों के जाने के बाद जनता के हाथों में सत्ता का 'वास्तविक' हस्तांतरण कैसे किया जाए। इसी मक़ाम पर वे कांग्रेसियों और तत्कालीन गाँधीवादियों से ही नहीं, मार्क्सवादियों से भी बहस करते हैं। इस दौर में जेपी के लेखन में 'बिना सामाजिक संबंधों को बदले हुए हृदय-परिवर्तन' की बात करने वाले गाँधी के ट्रस्टीशिप वाले सिद्धांत की आलोचना भी मिलती है। उनके विचार कुछ-कुछ अराजकतावादी समाजवादियों से मिलते-जुलते नज़र आते हैं। वे कम्युनिस्टों से पूछते हैं कि क्या राज्य को मेहनतकश जनता और बृहत्तर समाज का प्रतिनिधि माना जा सकता है ?

1948 में समाजवादी एकता के आधारभूत सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए जेपी ने क्रांतिकारी जन-इच्छा की धारणा सामने रखी जो उनकी लोकतंत्र संबंधी समझ का सारतत्त्व थी। अपने इन्हीं विचारों को आगे बढ़ाते हुए जेपी ने 1959 में भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्रचना की ज़रूरत पर बहस करते हुए सवाल उठाया कि क्या उत्पादन के साधनों और वितरण पर राज्य के नियोजित स्वामित्व को समाजवाद समझ लेने का आग्रह विफल नहीं हो चुका है ? इस आस्था की जगह नयी आस्था की स्थापना के लिए समाजवादियों को मार्क्स-पूर्व आदर्शों और अराजकतावादियों की तरफ देखना होगा। उन्हें तॉल्स्टॉय, रस्किन, मोरिस, गाँधी और विनोबा के विचारों में झाँकना होगा। इस सिलसिले में जेपी ने फ्रांस और इज़रायल में हुए प्रयोगों के साथ-साथ भारत में हो रहे ग्रामदान के प्रयोगों की ओर ध्यान खींचा। अपने इस विमर्श में जेपी प्रातनिधिक लोकतंत्र के विख्यात सिद्धांतकारों (मिल, लॉक और जेफर्सन वगैरह) से प्रभावित नज़र नहीं आते। यहाँ जेपी का आग्रह प्रतिनिधित्व के तुरंत और प्रत्यक्ष रूपों पर दिखाई देता है। वे कहते हैं कि प्रतिनिधित्व भू-क्षेत्रीय न हो कर पेशागत होना चाहिए। प्रतिनिधियों को हितों की नुमाइंदगी करनी चाहिए जो इलाकाई आधार पर न हो कर कामकाज और व्यवसाय के आधार पर बँटे हुए हैं।

आज़ादी के बाद जेपी ने भारतीय लोकतंत्र के लोकतांत्रिक होने की सीमाओं पर सोचना शुरू किया। इसी दौरान उन्होंने साधनों की पवित्रता और विकेंद्रीकरण के प्रश्नों पर अपना परिप्रेक्ष्य पेश किया। 1957 में लिखे अपने एक पत्र 'फ़ॉर्म सोशलिज़्म टू सर्वोदय' में उन्होंने समाजवादी सिद्धांत और कार्यक्रम की विस्तृत आलोचना की। इस मक़ाम पर उन्होंने लोकनीति को राजनीति से बेहतर बताया। उनका तर्क था कि स्वतंत्रता आंदोलन को लोकनीति के आईने में ही देखना चाहिए। जेपी के सामने स्पष्ट था कि आदर्श लोकतंत्र की सम्भावनाएँ भारत जैसे बड़े देश में साकार नहीं हो सकतीं, इसलिए उन्होंने विकेंद्रीकरण, सामुदायिक स्वायत्तता, ग्राम-सुधार जैसे कार्यक्रम पर जोर दिया। वे इच्छाओं और

आवश्यकताओं पर स्वैच्छिक संयम लगाने, समतामूलक सामाजिक संस्थाओं की नींव डालने, और सामुदायिक जीवन को फिर से कल्पित करने के पक्ष में हो गये।

सर्वोदय आंदोलन के साथ काफ़ी दिन तक काम करने के बाद जेपी की सक्रिय राजनीति में वापसी हुई, लेकिन उस दौरान भी प्रातिनिधिक लोकतंत्र और राज्य की संस्था के नेतृत्व में चलने वाले समाज-परिवर्तन पर उन्हें कभी विश्वास नहीं रहा। अपने ऊपर इंदिरा गाँधी द्वारा लगाये गये आरोपों के जबाब में उन्होंने तर्क दिया कि शासन करने की प्रक्रिया में ही कुछ ऐसा प्रदूषण निहित है जिससे मानवीय भाईचारे और मैत्री के मूल्यों का उल्लंघन होने लगता है। समुदाय टूट जाता है और व्यवस्था को जारी रखने का निहित-स्वार्थ भ्रष्टाचार को जन्म देता है। लोकतंत्र के नाम पर सुरक्षा-तंत्र स्थापित कर दिया जाता है। जब भी लोकतंत्र अपनी दावेदारी पेश करता है, राष्ट्र ख़तरे में है का नारा लगाया जाने लगता है।

1974 में जब जेपी ने बिहार और गुजरात में चल रहे जनांदोलनों का नेतृत्व सँभाला तो उन्होंने राजनीतिक तंत्र को सुधारने के लिए जन-कार्रवायी का आह्वान किया। इस लोकप्रिय आंदोलन के केंद्र में भ्रष्टाचार ख़त्म करने, चुनाव सुधार करने, महँगाई घटाने, शिक्षा व्यवस्था बदलने और बेरोज़गारी ख़त्म करने की माँगें थीं। हालाँकि इस आंदोलन में विपक्षी पार्टियों ने बड़े पैमाने पर भागीदारी की थी, लेकिन इसके मर्म में राजनीतिकृत छात्रों और नौजवानों का उभार था। इन युवकों ने जेपी द्वारा प्रवर्तित दलविहीन लोकतंत्र के सिद्धांत में गहरी लोकतांत्रिक सम्भावनाओं के दर्शन किये। जेपी की यह विरासत जनता पार्टी के प्रयोग के नाकाम रहने और उनके देहांत के बहुत बाद तक छात्र-युवा संघर्ष वाहिनी के रूप में देश के कई हिस्सों में गरीब जनता के संघर्षों का नेतृत्व करती रही।

देखें : अबुल क़लाम आज़ाद, एलमकुलम मनक्कर शंकरन नम्बूद्रीपाद, गोपाल कृष्ण गोखले, चरण सिंह, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मनोहर लोहिया।

संदर्भ

1. जय प्रकाश नारायण (1970), *कम्युनिटेरियन सोसाइटी ऐंड पंचायती राज*, ब्रह्मानंद (सम्पा.), वाराणसी.
2. जय प्रकाश नारायण (1980), *अ रेवोल्यूशनरीज़ क्वेस्ट—सिलेक्टड राइटिंग्स ऑफ़ जय प्रकाश नारायण*, बिमल प्रसाद (सम्पा.), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. रणबीर समादार, 'जय प्रकाश नारायण ऐंड द प्रॉब्लम्स ऑफ़ रिप्रज़ेंटेटिव डेमोक्रेसी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 43, अंक 31.
4. एस.सी. वर्मा (1975), 'जय प्रकाश नारायणज़ पॉलिटिक्स', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 3, अंक 11.

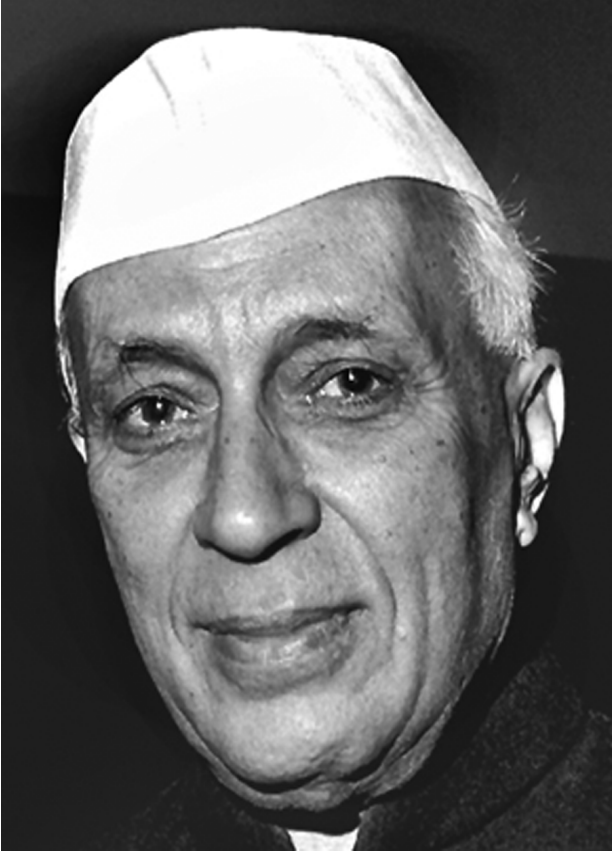
— अभय कुमार दुबे

जवाहरलाल नेहरू

(Jawaharlal Nehru)

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के शीर्ष नेताओं में से एक, इतिहासकार, वक्ता, गाँधी के घोषित उत्तराधिकारी, स्वप्न-दृष्टा, बुद्धिजीवी और करिश्माई जन-नेता जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) स्वातंत्र्योत्तर भारत की सबसे अहम हस्ती थे। आधुनिकीकरण के प्रत्यय को राष्ट्रीय विचारधारा के मर्म में स्थापित करके उन्होंने सोलह साल तक भारत के पहले राजनीतिक केंद्र का नेतृत्व किया। प्रधानमंत्री के रूप में राष्ट्र-निर्माण की जिस परियोजना का सूत्रीकरण नेहरू ने किया उसे सात मुख्य आयामों की रोशनी में परिभाषित किया जा सकता है : राष्ट्रीय अखण्डता, संसदीय लोकतंत्र, उद्योगीकरण, समाजवाद, वैज्ञानिक मानस, सेकुलरवाद और गुट-निरपेक्षता। नेहरू का दावा था कि उनकी राष्ट्रीय विचारधारा निजी प्राथमिकताओं या विचारधारात्मक आग्रह का परिणाम न हो कर भारतीय इतिहास और संस्कृति का अभिन्न अंग समझी जानी चाहिए। नेहरू ने यह दलील भी दी कि इस विचारधारा का सूत्रीकरण सभी भारतवासियों की सहमति और स्वेच्छा पर आधारित है। इतिहास के तर्क का आसरा लेते हुए नेहरू ने कहा कि यह परियोजना एक राष्ट्र के रूप में भारत के बचे रहने के लिए अनिवार्य है, क्योंकि केवल इसी तरह से यह देश आर्थिक, राजनीतिक और अन्य समस्याएँ हल करके अपने बौद्धिक और नैतिक जीवन का जीर्णोद्धार कर सकता है। अपने 45 साल लम्बे सार्वजनिक जीवन में नेहरू ने राष्ट्रीय-जीवन को कितनी गहराई से प्रभावित किया इसका अंदाज़ा इस बात से लग सकता है कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में बहस आज तक ख़त्म नहीं हुई है। न उनके प्रशंसकों की कमी है और न ही आलोचकों की।

जवाहरलाल नेहरू का जन्म 14 नवम्बर, 1889 को एक कश्मीरी पण्डित परिवार में हुआ था। उनके पिता मोतीलाल नेहरू एक स्थापित वकील और कांग्रेस के प्रभावशाली नेता थे। लंदन स्थित हैरो पब्लिक स्कूल और फिर ट्रिनिटी कॉलेज, केम्ब्रिज में अध्ययन करने के बाद 1912 में भारत लौटने पर नेहरू उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में कूद पड़े। कांग्रेस में उनके पिता गोखले की नरमदली राजनीति के समर्थक थे, पर नेहरू को पूर्ण स्वराज का समर्थन करने वाले गरमदली धड़े से हमदर्दी थी। लेकिन कांग्रेस के भीतर नेहरू ने जिस पूर्ण स्वराज की वकालत की वह तिलक द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के धार्मिक पहलुओं पर निर्भर न हो कर पश्चिम की वामपंथी उदारतावादी विचारधाराओं से अनुप्राणित था। नेहरू के व्यक्तित्व में आम जनता को अपनी ओर खींचने की अद्भुत



जवाहरलाल नेहरू (1889-1964)

क्षमता थी। नेताओं की जिस तिकड़ी के जरिये कांग्रेस पर गाँधी का हुकम चलता था, उसमें बल्लभभाई पटेल और राजेंद्र प्रसाद के साथ नेहरू भी शामिल थे। 15 जनवरी, 1941 को गाँधी ने उनके बारे में कहा था : 'कुछ लोग कहते हैं कि पण्डित नेहरू और मेरे बीच नाराजगी है। लेकिन, हम दोनों को अलग करने के लिए केवल मतभेद काफी नहीं हैं। जब से हमने साथ-साथ काम करना शुरू किया है, मतभेद तो हमारे बीच तभी से हैं। इसके बावजूद मैं पहले भी कहता रहा हूँ और अब फिर कहता हूँ कि राजाजी नहीं बल्कि जवाहरलाल ही मेरे उत्तराधिकारी होंगे।'

नेहरू को सभ्यतामूलक दृष्टि से भारत की महानता में कोई शंका नहीं थी। लेकिन अपनी विख्यात रचना *डिस्कवरी ऑफ इण्डिया* में उन्होंने समग्र भारत को एकसूत्र में बाँधने वाले केंद्रीय प्राधिकार की कमी को एक प्रमुख समस्या के रूप में चिह्नित किया। सत्ता की क्षेत्रीय और स्थानीय अभिव्यक्तियों के बारे में उनकी मान्यता थी कि इन लोगों ने आपसी हिसाब साफ़ करने के लिए विदेशी ताकतों को निमंत्रित करने में भी संकोच नहीं किया। राष्ट्रीय अखण्डता के प्रति अपने सरोकारों के तहत ही प्रधानमंत्री के तौर पर उन्होंने शुरुआत में भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का विरोध किया। वे जातीयतावादी आधार पर नगाओं और

सिक्खों के अलग राज्य से भी सहमत नहीं थे। हालाँकि नेहरू ने काफी हद तक राष्ट्रीय अखण्डता को मजबूती देने में कामयाबी हासिल की, लेकिन वे इस प्रक्रिया की धीमी गति के प्रति चिंतित बने रहे।

नेहरू के चिंतन का विरोधाभास यह था कि ऐतिहासिक स्मृति और भारतीय अवचेतन का गहरा बोध होने के बावजूद वे संस्कृति को अखण्डता के एक बुनियादी स्रोत के रूप में देखने के लिए तैयार नहीं थे। वे भारतीय संस्कृति के शास्त्रीय पहलुओं से तो परिचित थे, पर गाँधी की तरह उन्हें इस संस्कृति के लोक-रूपों पर महारत नहीं थी। एक तरह से उन्होंने भी इस प्राच्यवादी आग्रह को मान लिया था कि भारत की पारम्परिक संस्कृति आधुनिकीकृत राष्ट्र के अनुकूल नहीं बैठेगी। प्राचीन भारत की कुछ अवधियों को छोड़ कर वे परम्परा को पतन और क्षय का कारक ही मानते थे। इसलिए नेहरू ने जिस राष्ट्रीय एकजुटता को परिकल्पित किया उसमें अतीत और वर्तमान का जीवंत संयोग न होने के कारण सांस्कृतिक गहराई का अभाव लगता था। राष्ट्रीय एकजुटता को सांस्कृतिक आधार देने के लिए युरोप में प्राथमिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया था। लेकिन नेहरू ने एकजुट राष्ट्र बनाने के लिए तकनीकी कौशल में प्रशिक्षित लोगों की जरूरत पर ज्यादा जोर दिया। इसके लिए उन्होंने विश्वविद्यालयों, तकनीकी संस्थानों और उच्च शिक्षा की संस्थाओं का जाल फैलाया। लेकिन संसाधनों, सुविधाओं और नियोजन के लिहाज से प्राथमिक शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया। स्कूलों में बच्चों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करने में नेहरू की शिक्षा-नीति में इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से किसी विशेष कल्पनाशीलता का परिचय नहीं मिलता।

एकजुटता का लक्ष्य हासिल करने के मुकाबले कहीं ज्यादा सफलता नेहरू को संसदीय लोकतंत्र के विकास में मिली। उनका विचार था कि न केवल यह प्रणाली व्यक्ति की सत्ता का सम्मान करती है, बल्कि भारत जैसे विविधतामूलक और विशाल समाज को केवल इसी व्यवस्था के जरिये शासित किया जा सकता है। उन्हें यकीन था कि लोक सभा और विधान सभा के चुनावों से आम लोगों को सार्वजनिक जीवन के साथ जोड़ा जा सकता है। उन्हें उम्मीद थी कि उदारतावादी लोकतंत्र भारतीय मानस को जातिगत, ग्रामीण और अन्य संकीर्णताओं से मुक्त कर देगा। उन्होंने सारे जीवन इसी तरह के लोकतंत्र को पुष्ट करने वाली संस्थाओं की रचना और मजबूती पर जोर दिया। वे विवेकानंद, अरविंद या मानवेंद्र नाथ राय जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित 'सामुदायिक' या 'सावयवी' लोकतंत्र के विचार को नज़रअंदाज़ करते रहे। उन्होंने गाँधी प्रदत्त एक ढीली-ढाली राज्यव्यवस्था के विचार को भी नहीं माना और मजबूत केंद्र वाली संघात्मक व्यवस्था के लिए काम किया।

उन्हें पता था कि संसदीय लोकतंत्र मजबूत विपक्ष की उपस्थिति के बिना विकसित नहीं हो सकता। उनके युग में विपक्ष बहुत कमजोर हालत में था, फिर भी वे उससे लगातार सलाह-मशविरा करते रहते थे। उन्होंने विपक्ष को सरकारी विभागों के कामकाज की निगरानी में शामिल करने में भी कोशिश की। वे पार्टी के भीतर बहसों को प्रोत्साहित करने, नेताओं को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में सोचने के लिए प्रेरित करने और असहमति का स्वागत करने के पक्ष में रहते थे। नेहरू ने कई मौकों पर विपक्ष की भूमिका निभाते हुए खुद की और अपने ही साथियों की आलोचना की। प्रेस की आजादी का प्रबल समर्थक होने के कारण पत्रकारों की आवाज़ दबाने वाले मुख्यमंत्रियों को नेहरू की लताड़ सुननी पड़ती थी।

नेहरू की परियोजना का तीसरा पहलू था उद्योगीकरण। वे गरीबी और बेरोज़गारी हटाने के लिए कुटीर और छोटे उद्योगों की उपयोगिता मानते थे, पर समस्या का स्थायी हल उनकी निगाह में एक पूरी तरह से उद्योगीकृत, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक रूप से आगे बढ़ी हुई अर्थव्यवस्था ही थी। इस मामले में उनका गाँधी से सीधा मतभेद था। अपने युग के युरोपीय तजर्बे पर यक्रीन करते हुए नेहरू ने उद्योगीकरण को न केवल आर्थिक विकास की मुख्य चालक शक्ति के रूप में कल्पित किया, बल्कि उसे एक पारम्परिक भारतीय समाज के जीर्णोद्धार की शर्त भी माना। कृषि को वे आदिम और सांस्कृतिक रूप से कमतर गतिविधि मानते थे, एक ऐसी गतिविधि जो प्रकृति पर निर्भरता, भाग्यवाद, दकियानूसीपन को बढ़ावा दे कर मनुष्य के मानस को संकीर्णता के हवाले कर देती है। इसी विचार के अधीन पहली पंचवर्षीय योजना में उन्होंने खेती पर थोड़ा बहुत जोर दिया भी, पर दूसरी पंचवर्षीय योजना में पूरा बल उद्योगीकरण पर ही रहा।

नेहरू के लिए समाजवाद एक तरफ़ उत्तम और वांछित समाज का मानक था जिससे उन्हें वर्गविहीन, लोकतांत्रिक और मानवीय सम्भावनाओं के समग्र प्रतिनिधित्व की गारंटी होती हुई लगती थी। दूसरी तरफ़ वे मानते थे कि सामाजिक विश्लेषण की वैज्ञानिक विधि भी समाजवाद के ही पास है। यह पद्धति आर्थिक कारक को प्रधान चालक-शक्ति मानने पर निर्भर थी। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, आर्थिक विकास की प्रक्रिया ने समाज पर धार्मिक चेतना और उसके आधार पर होने वाले टकरावों को कम नहीं किया। नेहरू को यह देख कर काफ़ी उलझन होती थी कि आर्थिक माँगें भी धार्मिक राजनीति की भाषा में व्यक्त की जा रही हैं। हालाँकि वे बीस के दशक से ही खुद को समाजवादी कहने लगे थे और कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में व्यक्त उनकी समाजवादी महत्वाकांक्षाओं से घबड़ा कर कई लोगों ने कांग्रेस कार्यसमिति से इस्तीफ़ा तक दे दिया था, लेकिन चूँकि

नेहरू पूँजीपति वर्ग को हिंसक तरीके से उखाड़ फेंकने के खिलाफ़ थे और न ही उन्हें सर्वहारा की तानाशाही में यक्रीन था, इसलिए उन्हें अपने समाजवादी आग्रहों को लोकतंत्र की सीमाओं के साथ समायोजित करना पड़ा। 1954 से लेकर 1964 में अपने निधन तक नेहरू के लिए समाजवाद का मतलब मुख्यतः पब्लिक सेक्टर के प्रभुत्व वाली नियोजन आधारित मिश्रित अर्थव्यवस्था ही रही।

अक्सर कहा जाता है कि नेहरू हर भारतवासी को वैज्ञानिक मानस से सम्पन्न देखना चाहते थे। उनके लिए वैज्ञानिक मानस का मतलब सीधा था : तथ्यों पर भरोसा, अंधविश्वासों से मुक्ति, बुद्धिसंगत व्यवहार और निर्णय-क्षमता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि नेहरू को विज्ञान की सीमाओं का एहसास नहीं था और वे प्रत्यक्षवाद के शिकार थे। वे वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय विकास के नाम पर यांत्रिक समाज और मानस बनाने के हक़ में नहीं थे। इसके अलावा नेहरू यह भी मानते थे कि विज्ञान से अपनी उपलब्धियों का इस्तेमाल करने के बारे में कोई हिदायत नहीं मिलती। विज्ञान के बेजा इस्तेमाल को रोकने के लिए नेहरू 'आध्यात्मिक संयम' का रास्ता अपनाने के पक्ष में थे।

नेहरू को धर्म और राज्य के रिश्तों के संदर्भ में सेकुलरवाद की एक खास समझ विकसित करने और उसे पश्चिमी शिक्षा में रंगे भारतीयों के गले उतारने का श्रेय भी दिया जाता है। दरअसल नेहरू धर्म के आध्यात्मिक पहलुओं के प्रति हमदर्दी रखते हुए उसके विचारधारात्मक व संस्थागत पहलुओं के कड़ाई से खिलाफ़ थे। यदा-कदा उन्होंने अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा का पक्ष ज़रूर लिया, लेकिन आम तौर पर आध्यात्म की उनकी तरफ़दारी अपरिभाषित ही रही। इसके बावजूद गोखले और गाँधी की तरह वे राजनीतिक जीवन में आध्यात्मिकता की भूमिका को स्वीकार करते थे। दूसरी तरफ़ नेहरू ने राजनीति में धर्म की संस्थागत या विचारधारात्मक भागीदारी का स्पष्ट विरोध करते हुए भारतीय राज्य को उससे निरपेक्ष रखने का पूरा प्रयास किया। उन्होंने धार्मिक राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध तो नहीं लगाया, पर उनकी भर्त्सना की और न ही किसी धार्मिक नेता से कभी जुड़े। नेहरू ने राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद को पुनर्निर्मित सोमनाथ मंदिर के उद्घाटन से रोकने की ज़बरदस्त लेकिन विफल चेष्टा की। उन्हें धार्मिक अर्थ-छवियों का वाहक होने के कारण 'वंदे मातरम' गीत पर आपत्ति थी।

राज्य और धर्म के संबंध को पूरी तरह से भंग कर देने की मंशा के बावजूद नेहरू ऐसा नहीं कर पाये। उन्होंने हिंदू कोड बिल तो पारित कराया, पर मुसलमानों की निजी संहिता में हस्तक्षेप करने का साहस वे नहीं जुटा पाये। इस तरह वे समान नागरिक संहिता बनाने का वायदा पूरा करने में विफल रहे। उनके ज़माने में भी भारतीय राज्य धार्मिक मौकों पर

छुट्टियाँ मनाता रहा। मुख्यमंत्रीगण धार्मिक उत्सवों में जाते रहे। नेहरू अलीगढ़ और बनारस विश्वविद्यालयों के नाम के आगे से मुसलिम और हिंदू भी नहीं हटा पाये। नेहरू के सेकुलरवाद को उनकी सरकार के सेकुलर आचरण की इन विसंगतियों के कारण आज भी आलोचना का सामना करना पड़ता है।

नेहरू की राष्ट्रीय परियोजना का सातवाँ आयाम गुट-निरपेक्षता थी। विदेश-नीति के सूत्रीकरण में निजी तौर पर दिलचस्पी लेते हुए नेहरू ने दुनिया को कैपिटलिज्म और कम्युनिज्म के प्रतीक दो शक्ति-केंद्रों में बँटते हुए देखा। उनकी मान्यता थी कि एक समझदार पूँजीवाद उदार क्रिस्म के साम्यवाद के साथ सह-अस्तित्व में रह सकता है। वे भारतीय राष्ट्र को एक ऐसे ही वजूद की सम्भावनाओं की रोशनी में देखते थे। इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि भारत न तो पूँजीवादी खेमे में रहेगा और न ही साम्यवादी खेमे में। इसके लिए उन्होंने तीन तर्क दिये : केवल इसी तरीके से भारत की स्वतंत्रता की गारंटी हो सकती है, भारत में मौजूद दोनों विचारधाराएँ एक मंच पर आ सकती हैं, और भारत अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्वतंत्र भूमिका निभाते हुए तीसरी दुनिया के पक्ष में खड़ा हो सकता है। गुट-निरपेक्षता के प्रवक्ता के रूप में नेहरू ने भारत को एशियाई अस्मिता के वाहक की तरह भी देखा। उनकी नीति के कारण द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भारत को अंतर्राष्ट्रीय मामलों में दृश्यमानता मिली और वह एक विश्व-मामलों में रचनात्मक भूमिका निभा पाया।

भारत जैसे पारम्परिक समाज का आधुनिकीकरण एक बहुत कठिन लक्ष्य था। इसमें पूर्ण सफलता केवल एक चमत्कार के रूप में ही मिल सकती थी। नेहरू को भी इसमें आंशिक सफलता ही मिली। भारत के पड़ोसियों के प्रति उनका रुख बड़े भाई जैसा था। वे न तो उनके आक्रामक इरादों के प्रति सतर्क रहते थे, और न ही उनके साथ परस्पर समझदारी निकालने में उनकी रुचि थी। इसी कारण से उन्हें भारत-चीन सीमा विवाद का धक्का झेलना पड़ा। 1962 के युद्ध में अपमानजनक पराजय उनके अन्यथा चमकदार राजनीतिक जीवन पर काले साये की तरह मानी जाती है। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि आखिरी वक्रत में बीमारी और चीन-युद्ध की निराशाओं से जूझते हुए भी नेहरू ने अपने राजनीतिक उत्तराधिकार की समस्या को सराहनीय कौशल से निबटाया। उनके देहांत के बाद बिना किसी राजनीतिक कलह के लालबहादुर शास्त्री का प्रधानमंत्री बन जाना उनकी ही योजना का परिणाम था।

देखें : अबुल कलाम आज़ाद, एलमकुलम मनक्कर शंकरन नम्बूद्रीपाद, गोपाल कृष्ण गोखले, चरण सिंह, जय प्रकाश नारायण, बल्लभभाई पटेल, बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मनोहर लोहिया।

संदर्भ

1. माइकेल ब्रेशर (1966), *नेहरू : अ कंटेम्पेरी एस्टीमेट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. बी.एन. पांडेय (1977), *नेहरू, मैकमिलन*, लंदन.
3. सर्वपल्ली गोपाल (सम्पा.) (1980), *जवाहरलाल नेहरू : एन एंथोलॉजी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. बलदेव सिंह (सम्पा.), *जवाहरलाल नेहरू ऑन साइंस एंड सोसाइटी*, नेहरू म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी, नयी दिल्ली.
5. भीखू पारिख (1991), 'नेहरू एंड द नैशनल फिलॉसफी ऑफ़ इण्डिया', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 26, अंक 1-2.
6. जवाहरलाल नेहरू (1985), *डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
7. जवाहरलाल नेहरू (1958), *एन ऑटोबायोग्राफी*, बोडली हेड, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

जॉर्ज ज़िमेल्

(George Simmel)

प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री तथा दार्शनिक जॉर्ज ज़िमेल् (1858-1918) को नव-कांटवादी दार्शनिक चिंतन और औपचारिक समाजशास्त्र के विकास के लिए जाना जाता है। उनकी गणना समाजशास्त्र के सबसे आरम्भिक संस्थापकों में भी होती है। ज़िमेल् का मैक्स वेबर जैसे प्रतिष्ठित समाजशास्त्री के साथ गहरा जुड़ाव था, पर इसके बावजूद अकादमिक जगत में स्वीकृति एवं विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसरी प्राप्त करने के मामले में उन्हें खासी जद्दोजहद करनी पड़ी। उन्होंने अपने अध्ययन में विभिन्न सामाजिक संबंधों को नियंत्रित करने वाले रूपों (जैसे त्रयी व द्वयी संबंधों या अधीनता एवं नियंत्रणकारी संबंधों) पर विशेष, बल दिया। संबंधों के विभिन्न रूपों के अध्ययन के दौरान उन्होंने अलग-अलग सामाजिक भूमिकाओं तथा प्रातिनिधिकताओं का विवेचन किया जिसके अंतर्गत मनुष्य की श्रेणियाँ निर्मित होती हैं और उनकी गतिविधियों का संयोजन किया जाता है। इनमें अजनबी होने, दुस्साहसी होने, वेश्या या कंजूस होने जैसी श्रेणियाँ भी शामिल थीं। उन्होंने सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों जैसे फ़ैशन, महानगरीय जीवन और सेक्शुअलिटी आदि का भी समाजशास्त्रीय अध्ययन किया। समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवाद विरोधी चिंतन की स्थापना के लिए ज़िमेल् को विशेष तौर पर याद किया जाता है। ज़िमेल् की प्रमुख पुस्तकें हैं : *द प्रॉब्लम्स ऑफ़ द फिलॉसफी ऑफ़ हिस्ट्री* (1892),

द फिलासफी ऑफ मनी (1907), द मेट्रोपोलिस ऐंड मेंटल लाइफ (1903)।

ज़िमेल का ज़्यादातर लेखन बृहद पुस्तकीय योजना के बजाय निबंधों की शकल में रचा गया। इसलिए अपने समकालीन मैक्स वेबर और एमील दुर्खाइम जैसे समाजशास्त्रियों की तुलना में उनकी मूल स्थापनाओं पर ज़्यादा बहस हुई। अकादमिक जगत की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए उन्हें अधिक संघर्ष करना पड़ा। प्रोफेसर बनने के लिए उनका रास्ता अधिक चुनौतीपूर्ण साबित हुआ। जर्मनी के बर्लिन विश्वविद्यालय और स्ट्रांसबर्ग युनिवर्सिटी में उन्होंने अध्यापन किया, पर अकादमिक कैरियर में तरह-तरह की बाधाएँ आती रहीं।

समाजशास्त्र के बारे में उनकी समस्त अवधारणाओं के मूल में मौजूद प्रश्न है : समाज कैसे सम्भव होता है ? सामान्य सत्य यह है कि समाज बड़ी संख्या में व्यक्तियों के योग से बना है और उनमें से प्रत्येक अपने निजी हितों और सरोकारों से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी पारिवारिक जीवन, मित्रों एवं परिचितों की दुनिया के बाहर दूसरे के हितों पर बहुत कम ध्यान देता है। इसके बावजूद व्यक्तियों की निजी क्रियाएँ बहुत संगठित, स्थिर और नियंत्रित बनी रहती हैं। वे पूर्वपेक्षा के अनुसार ही संचालित होती हैं। ज़िमेल इसी सामाजिक स्थिरता के कारणों की व्याख्या करने का प्रयास कर रहे थे। इसके लिए उन्होंने इमैनुएल कांट से प्रेरणा ग्रहण की जिन्होंने प्रकृति कैसे सम्भव होती है जैसे प्रश्न का सामना करने के लिए अपनी ओर से कुछ व्याख्याएँ प्रस्तुत की थीं। कांट ने अपनी किताब *क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीज़न* में बताया था कि अपनी मानवीय संवेदनाओं की विशिष्टता के कारण हमें प्रकृति के विभिन्न अंग एकजुट प्रतीत होते हैं। यानी मानव मस्तिष्क की बनावट इस प्रकार की है कि प्रकृति के अलग-अलग हिस्से भी किसी व्यवस्था के अंतर्गत संचालित प्रतीत होते हैं। ज़िमेल का कहना है कि समाज की एकता किसी बाह्य प्रेक्षक पर निर्भर नहीं रहती है, बल्कि समाज की एकता समाज के सभी सदस्यों की सक्रिय प्रतिभागिता से ही सम्भव होती है। यानी ज़िमेल का मत है कि समाज का संगठन अभिजनों के किसी समूह के योजनाबद्ध क्रियाकलापों अथवा उनके द्वारा किये जा रहे षडयंत्रों का परिणाम नहीं होता। इसलिए नौकरशाही भी समाज का बड़ा और-प्रातिनिधिक संगठन होता है।

ज़िमेल के अनुसार समाज के निर्माणकारी तत्त्व और कोई नहीं बल्कि सजग और सृजनात्मक मानवीय इकाइयाँ होती हैं। मानव-इकाइयाँ चाहती हैं कि ऐसा समाज, जो कि ख़ास तौर पर उनके लिए निर्मित हुआ है, वहाँ व्यवस्था तथा स्थिरता बनी रहे। यहाँ तक कि उसका भविष्य भी उनके सामने स्पष्ट रहे। इसके अतिरिक्त मनुष्य सामाजिक संबंधों



जॉर्ज ज़िमेल (1858-1918)

की स्थापना से पूर्व स्वयं को भिन्न प्रकार के गुणों व अवधारणाओं से लैस करता है जो विभिन्न परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित करने तथा सामंजस्य पैदा करने में मददगार सिद्ध होती हैं। मनुष्य निरंतर कठोर श्रम करते हैं, हालाँकि वे स्वयं उसे लक्षित नहीं कर पाते, ताकि समाज में व्यवस्था पैदा कर सकें, और उसे बनाये रख सकें।

ज़िमेल ने समाज के बारे में मनुष्य के बोध और समाज के संचालन की स्थितियों के बीच संबंधों की विशेष तौर पर समीक्षा की। उन्होंने लिखा कि मनुष्यों में समाज का समग्र बोध नहीं होता है पर वे एक-दूसरे के संबंध में व्यवहार निर्धारित करने वाले नियमों तथा परम्पराओं के बारे में अवश्य ज्ञान रखते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शतरंज के खेल का भी उदाहरण दिया। जो व्यक्ति शतरंज समझता नहीं, उसके लिए इस खेल के खिलाड़ियों की गतिविधियाँ बड़ी रहस्यपूर्ण होती हैं। वे संरचनाबद्ध तथा सामंजस्यपूर्ण लगती हैं, पर उनका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं झलकता है। वह कोई रहस्यमय नृत्य हो सकता है, जिसकी नृत्य शैली का निर्धारण कोई तीसरा व्यक्ति कर रहा होता है। लेकिन, शतरंज खेल रहे खिलाड़ी के लिए खेल के दौरान उसकी क्रियाएँ न केवल सार्थक होती हैं बल्कि इसलिए भी अर्थपूर्ण होती हैं क्योंकि हर खिलाड़ी अपने प्रतिपक्षी का प्रत्युत्तर दे रहा होता है। स्पष्ट है कि ज़िमेल समाज के बारे

प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद और घटनाक्रियावादी नज़रिये के काफ़ी नज़दीक पहुँच गये थे।

ज़िमेल के अनुसार मनुष्य जिस समाज में रहता है और जिसे वह जन्म देता है उसमें स्वयं को पूरी तरह सहज नहीं अनुभव करता है। इसी संदर्भ में उन्होंने अत्यंत विचारोत्तेजक स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं जिसे *सांस्कृतिक त्रासदी* (1968) के नाम से जाना गया। ज़िमेल के अनुसार संस्कृति ऐसा तंत्र है जिसमें मानव-मस्तिष्क की रचना किसी ऐसी बाहरी व्यवस्था (एजेंसी) से होती है जो इतिहास की प्रक्रिया में बहुत वस्तुगत रूप हासिल कर चुकी है। आरम्भ में सभी मनुष्यों की गतिविधियाँ नितांत व्यक्तिपरक होती हैं। वे ऐसे सभी अर्थों और इरादों से सम्पन्न होती हैं जिन्हें व्यक्ति उन गतिविधियों तथा घटनाओं पर आरोपित करता है। इस प्रकार अपने कार्यों तथा गतिविधियों को अर्थपूर्ण बनाते हुए और अन्य लोगों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए व्यक्तिपरक चीज़ें किसी वस्तुपरक सत्य में रूपांतरित हो जाती हैं। विभिन्न मानवीय क्रियाओं से उत्पन्न चीज़ें (जैसे कृषि से पैदा होने वाले संस्कृति के विविध रूप) धीरे-धीरे स्वतंत्र होती चली जाती हैं और उनके विकास का अपना नया तर्क विकसित हो जाता है। मानव क्रियाओं तथा गतिविधियों से जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वे मानव समाज की स्वतंत्रता को बाधित तथा नियंत्रित भी करने लगती हैं।

इस संबंध में ज़िमेल विभिन्न प्रकार के उदाहरण अपने प्रसिद्ध निबंध *द स्ट्रेंजर* में भी प्रस्तुत करते हैं। भावोन्माद के प्रथम चरण में कामोद्दीपक संबंध उनके बीच बनते हैं जो अपनी निजता को विशिष्ट समझते हैं और जिन्हें लगता है कि उनका अपना प्रेम तो ऐसा है जैसा पहले सृष्टि में किसी के मध्य कभी भी सम्भव नहीं हुआ होगा। पर धीरे-धीरे यह संबंध भी दैनंदिनता और नीरसता में समा जाता है। संबंधगत दूरी बढ़ने के साथ ही संबंध भी बहुत ख़ास और अनोखे प्रतीत नहीं होते और इस बिंदु पर संबंध में शामिल लोगों को अनुभव होता है कि अन्य लोग भी उनके बारे में ऐसी ही भावनाएँ रख सकते हैं। अर्थात् व्यवहार में हम सब इस विचार से भयभीत रहते हैं कि हम सभी का विकल्प है, न केवल नौकरी-कारोबार में हमारी जगह दूसरों को रखा जा सकता है, वरन् बहुत अंतरंग और भावना प्रधान संबंधों में हमारे स्थान पर अन्य लोग लाये जा सकते हैं।

इसलिए ज़िमेल के अनुसार एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य कुछ भूमिकाओं को ग्रहण ही नहीं करता बल्कि उन्हें अर्थपूर्ण और निजता के साथ निभाता है। पर अंततः वह विभाजित जीवन ही जी पाता है। ज़िमेल का यह कहना नहीं है कि जीवन में व्यक्ति की क्षमता केवल चंद सामाजिक भूमिकाओं के निर्वाह से ही समाप्त हो जाती है। उनका तो मानना है कि अपने को व्यक्ति मान लेने पर भी वैयक्तिकता

स्वयं में एक अलग प्रवृत्ति या भूमिका में बदल जाती है। जिस संस्कृति में हम रहते हैं वह उसके द्वारा आरोपित सीमाओं के द्वारा बाधित भी होती है।

ज़िमेल ने गोपनीयता के अध्ययन में भी विशेष योगदान किया है। इस संबंध में उन्होंने विश्लेषण के जिन नये सूत्रों का प्रतिपादन किया था उनका प्रभाव आज तक बरकरार है। उदाहरण के लिए उनका यह सूत्र आज भी उतना ही प्रासंगिक है कि जब कोई व्यक्ति दूसरे से झूठ बोलता है तो दूसरे व्यक्ति को सिर्फ़ धोखा ही नहीं दिया जाता बल्कि वह झूठ बोलने वाले की वास्तविक मंशा के बारे में भी भ्रंति का शिकार होता है। ऐसे भ्रम और मिथ्या धारणाएँ सरल समाजों में तो उतनी ख़तरनाक नहीं होती लेकिन आधुनिक अर्थव्यवस्था के लेन-देन में, जहाँ सभ्यता की पूरी संरचना ही व्यक्ति और उसकी मंशाओं की पूर्वधारणाओं पर निर्भर करने लगी है, वहाँ मिथ्या धारणाएँ एक अनियंत्रित खेल रच सकती हैं।

ज़िमेल ने विशिष्ट प्रकार की गतिविधियों जैसे राजनीतिक, आर्थिक और सौंदर्यगत गतिविधियों से सामाजिक अंतःक्रिया के विभिन्न रूपों को अलग करके देखा। उन्होंने प्राधिकार और आज्ञाकारिता की समस्या पर विशेष तौर पर ध्यान दिया। अपनी किताब *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ मनी* (1978) में उन्होंने अर्थशास्त्र जैसे सामान्य विषय के आधार पर मानव व्यवहार के सामाजिक पहलुओं का अध्ययन किया। इसमें उन्होंने मुद्रा-अर्थव्यवस्था का विस्तार से विवेचन किया। इस व्यवस्था की सामाजिक गतिविधियों के विशिष्टीकरण तथा व्यक्ति व सामाजिक संबंधों के निर्वैयक्तिकरण में बड़ी भूमिका होती है। जीवन के अंतिम वर्षों में ज़िमेल ने तत्त्वमीमांसा तथा सौंदर्यशास्त्र में भी दिलचस्पी दिखाई। ज़िमेल ने अपने चिंतन से फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के थियोडोर एडोर्नो तथा मैक्स हॉर्कहेमर आदि को भी काफ़ी प्रभावित किया।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफ़र्ड गीर्टज़, गोपनीयता, टैलकॉट पार्संस, पिएर बोर्दियो, फ्रेंज़ उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. जॉर्ज ज़िमेल (1955), *द सोसियोलॉजी ऑफ़ ज़िमेल*, (संकलन एवं अनुवाद : कर्ट वोल्फ़), फ्री प्रेस, ग्लैको.
2. डेविड किम (सम्पा.) (2006), *जॉर्ज ज़िमेल इन ट्रांसलेशन : इंटरडिसिप्लिनरी बॉर्डर, क्रासिंग्ज़ इन कल्चर ऐंड मॉडर्निटी*, केम्ब्रिज स्कालर प्रेस, केम्ब्रिज.
3. जॉर्ज ज़िमेल (1955), *कॉन्फ़्लिक्ट ऐंड द वेब ऑफ़ ग्रुप एफ़्लिएशन*, फ्री प्रेस, ग्लैको.

जातीयता

(Ethnicity)

समाजशास्त्र के लिहाज से जातीयता या एथ्निसिटी अपनी पहचान का एक ऐसा आत्म-सचेत दावा है जिसे समान उद्गम, समान देश और समान भाषा के सम्मिलित आधार या किन्हीं एक आधार पर किसी समूह के साथ जोड़ कर किया जाता है। हालाँकि यह विवादग्रस्त है, पर कहीं-कहीं धर्म और संस्कृति को भी जातीयता का आधार बनाया गया है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अनुशासन में एथ्निसिटी का अध्ययन उस समूहों के बीच के संबंधों के तौर पर किया जाता है जो अपने आप को सांस्कृतिक रूप से अलग मानते हैं। भारतीय संदर्भों में अक्सर एक सी ध्वनि देने वाले दो शब्दों, जातीयता और जाति, के बीच घालमेल हो जाता है। दरअसल, ये दोनों अलग-अलग अवधारणाएँ हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अंत्यज आदि जातियाँ हैं, पर तमिल होना, असमी होना, बंगाली होना, नगा या मिजो होना जातीयता का परिचायक है।

जातीयता या एथ्निसिटी शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द एथ्नॉस से हुई है। एथ्नॉस का स्रोत एथ्निकॉस में निहित है जिसका अर्थ होता है नेशन या राष्ट्र। इसीलिए जातीयता अक्सर राष्ट्रत्व का आधार बन जाती है। जातीयता के आधार पर सांस्कृतिक सीमाएँ तय होती हैं और उन सीमाओं को प्रतिमान मान कर 'हम' और 'वे' या अपने और पराये का फ़ैसला होता है। चौदहवीं सदी से अंग्रेज़ी में इस शब्द का इन्हीं अर्थों में प्रयोग होना शुरू हुआ। उन्नीसवीं सदी के मध्य से एथ्निसिटी का हवाला प्रजातीय या नस्ली लक्षणों के लिए दिया जाने लगा। द्वितीय विश्व-युद्ध के आसपास अमेरिका में यहूदियों, इतालवियों, आयरिशों आदि को एथ्निक ग्रुप्स के रूप में देखे जाने की शुरुआत हुई। इसके पीछे भावना यह थी कि ये लोग ग़ैर-ब्रिटिश उद्गम के होने के नाते कमतर क्रिस्म के हैं।

आज भी एथ्निसिटी को अल्पसंख्यक मुद्दों और नस्लगत संबंधों से जोड़ कर देखने का चलन है। चूँकि आधुनिक जेनेटिक्स में पृथक और शुद्ध नस्लों के अस्तित्व को खारिज कर दिया गया है, इसलिए यूरोप के धरातल पर नस्ली संबंध जातीयता की भाषा में अभिव्यक्ति किये जाने लगे हैं। दूसरी तरफ़ उत्तरी अमेरिका में नस्ल की भाषा का इस्तेमाल जारी है। इसके पीछे मान्यता यह है कि नस्ल एक स्वीकृत सामाजिक संरचना है और नस्ली उद्गम किसी से छिपा हुआ नहीं है। जातीय समूहों को अल्पसंख्यक करार दे कर बहुसंख्यकवादी राजनीति उनके जातीय अनुभव को पारिवेशिक और अपने अनुभव को सार्वभौमिकता की भाषा

में व्यक्त करने की कोशिश करती है।

आज दुनिया में अधिकतर हिंसक संघर्षों की प्रकृति आंतरिक है और उन्हें जातीय संघर्षों की श्रेणी में रखा जा सकता है। अहिंसक जातीय संघर्ष भी हैं, जैसे कनाडा का क्युबेक स्वतंत्रता आंदोलन। जातीय संघर्षों में किसी राष्ट्रीय संरचना को खण्ड-खण्ड कर देने की क्षमता होती है। मसलन, जो कभी सोवियत संघ था वह आज एक दर्जन से ज्यादा जातीयता आधारित देशों में बदल चुका है। एक तरफ़ तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक, राजनीतिक और एक हद तक सांस्कृतिक एकीकरण की तरफ़ जा रहा है, लेकिन दूसरी तरफ़ राष्ट्रीय और जातीय अस्मिताएँ अहम बनी हुई हैं। बहुत से लोगों को डर है कि इस एकीकरण की प्रक्रिया के कारण वे अपनी अस्मिता खो बैठेंगे। कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें इस सिलसिले के गर्भ से एक अखिल-यूरोपीय अस्मिता के पैदा होने की उम्मीद है जो जातीय और राष्ट्रीय अस्मिताओं की जगह ले लेगी।

समाजशास्त्र में जातीयता और अस्मिता का संबंध काफ़ी पेचीदा माना जाता है। एक व्यक्ति कह सकता है कि वह वेल्श है, ब्रिटिश है या श्वेत है। इसी तरह एक व्यक्ति कह सकता है कि वह आर्य या द्रविड़ है, भारतीय है, तमिल या पंजाबी है। वह अलग-अलग परिस्थितियों में अपनी किसी एक जातीयता पर जोर देना पसंद करेगा। यानी जातीयताओं का सह-अस्तित्व किसी व्यक्ति की समग्र अस्मिता की संरचना करता है। इसी कारण से किसी एक जातीयता के साथ व्यक्ति की आत्म-पहचान ज़रूरी नहीं कि स्थायी क्रिस्म की ही हो। समूह के स्तर पर व्यक्तिगत जातीयता उस समूह के अन्य सदस्यों द्वारा की जाने वाली जातीय दावेदारी से जुड़ जाना पसंद करती है। इससे अलग जातीय समूह परिभाषित होता है।

यह पेचीदगी उस समय और बढ़ जाती है जब धर्म, संस्कृति, जातीयता और राष्ट्रत्व के बीच संबंधों की जाँच-पड़ताल होती है। क्या भारतीय मुसलमान अलग जातीयता का निर्माण करते हैं? अगर हाँ, तो क्या उनके बड़े-बड़े हिस्से तमिल या बंगाली जातीयता के अंग नहीं हैं? क्या धर्म जातीयता का आधार हो सकता है? अगर तमिल हिंदुओं और बंगाली हिंदुओं की जातीयता एक है तो क्या एक जातीयता में कई संस्कृतियाँ हो सकती हैं? क्या बम्बई में रहने वाले हिंदी भाषी उत्तर भारतियों को मराठी भाषी महाराष्ट्रियों से अलग जातीयता के रूप में देखा जाना चाहिए? ये प्रश्न भारत ही नहीं, यूरोप या दुनिया के अन्य देशों की ज़मीन पर भी उतने ही वैध हैं। मसलन, क्या ब्रिटेन में रहने वाले एक राष्ट्र हैं या वह कई उपराष्ट्रों से मिल कर बना हुआ एक राष्ट्र है? हालाँकि ये तमाम सवाल अभी काफ़ी हद तक अनुत्तरित पड़े हुए हैं, पर विद्वानों ने दुनिया में जातीय समूहों को मुख्य तौर

पर चार श्रेणियों में बाँटा है।

शहरी जातीय अल्पसंख्यक : श्रेणी में युरोपीय शहरों में रहने वाले गैर-युरोपीय लोग, अमेरिका में रहने वाले हिस्पानी, अफ्रीका और अन्य जगहों के औद्योगिक शहरों में रहने वाले प्रवासी आते हैं। आप्रवासियों पर होने वाले अनुसंधानों में अक्सर स्थानीय संस्कृति को आत्मसात करने में होने वाली समस्याओं, स्थानीय लोगों द्वारा उनके साथ किये जाने वाले भेदभाव, नस्लवाद, अस्मिता-प्रबंधन और सांस्कृतिक परिवर्तनों से जुड़े विषयों पर जोर दिया जाता है। शहरी जातीय अल्पसंख्यकों के राजनीतिक हित सुपरिभाषित होते हैं, पर इसके बावजूद वे राजनीतिक स्वतंत्रता या अलग राज्य प्राप्त करने की माँगें शायद ही कभी उठाते हैं। उत्पादन और उपभोग का पूँजीवादी तंत्र इन जातीय अल्पसंख्यकों का शहरी आधुनिकता में विनियोग कर लेता है। भारत में इसका प्रमाण बम्बई में रहने वाले उत्तर प्रदेश और बिहार के कस्बाई और ग्रामीण इलाकों से आये लोग हैं जिनकी राजनीति महानगर के मराठीभाषियों की राजनीति से अलग है, पर वे अपने खिलाफ चलने वाली मुहिमों के बावजूद अलग राज्य की माँग कभी नहीं करते।

देशज समूह का सीधा अर्थ है जनजातीय या आदिवासी मूल के लोग जिन्हें एबोर्जिनल भी कहा जाता है। ये जिन क्षेत्रों में रहते हैं, वहाँ उनकी हैसियत कमोबेश राजनीतिक रूप से शक्तिहीन होती है। मुख्यधारा के साथ उनका एकीकरण ज़्यादा से ज़्यादा आंशिक ही हो पाता है। समझा जाता है कि देशज लोग गैर-औद्योगिक उत्पादन विधियों से जुड़े होते हैं और उनकी राजनीतिक संरचनाओं के साथ प्रायः सुपरिभाषित राज्य का इतिहास नहीं जुड़ा होता।

जातीय-राष्ट्रवादी आंदोलन : प्रोटो-नैशनलिस्ट कहे जाने वाले इन समूहों की गतिविधियाँ समाचार माध्यमों में छापी रहती हैं। चाहे वे इराक के कुर्द हों, भारत के सिक्ख पृथकतावादी हों, अरब के फ़िलिस्तीनी हों या फिर श्रीलंका के तमिल हों, उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। इनके राजनीतिक नेताओं का दावा है कि वे अलग राष्ट्र हैं और उन पर कोई और हुकूमत नहीं कर सकता। शहरी जातीय अल्पसंख्यकों या देशज समूहों से भिन्न इन आंदोलनों में ऐसे बहुत से लक्षण देखे जाते हैं जो उन्हें राष्ट्र की परिभाषा नज़दीक पहुँचा देते हैं। इनके पास परम्परागत रूप से एक भू-क्षेत्र होता है, वर्ग और शिक्षा के लिहाज़ से उनके बीच विभेदीकरण पाया जाता है, और संख्यात्मक शक्ति भी होती है। इन्हें बिना किसी राज्य के राष्ट्र की तरह भी देखा जा सकता है।

बहुलतामूलक समाजों के जातीय समूह : भारत सहस्राब्दियों से विभिन्न जातीय समूहों की बहुलता से सम्पन्न समाज है। लेकिन दुनिया में ऐसे राज्य भी हैं जिन्हें

उपनिवेशवाद की डिज़ाइन के मुताबिक बहुलतामूलक समाज बनना पड़ा है। जैसे, केन्या, इंडोनेशिया और जमैका। कुल मिला कर आजकल तक्ररीबन सभी समकालीन राज्य बहुलतामूलक ही कहे जाएँगे। हर बहुलतामूलक समाज में विभिन्न जातीय समूह एक समरूप राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली में भागीदारी करने के लिए मजबूर हैं। आम तौर पर उन्हें पृथकता के दावे का अधिकार नहीं होता। कई बार उनकी परिस्थितियाँ भी ऐसी नहीं होतीं कि वे इस प्रकार का दावा कर सकें।

देखें : अभिजन, अभिरुचि, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, जादू, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 5 तक, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बेगानगी, भीड़, विचलन।

संदर्भ

1. फ्रेड्रिख बार्थ (1969), *एथनिक ग्रुप्स ऐंड बाउंडरीज़ : द सोशल ऑर्गनाइज़ेशन ऑफ़ कल्चर डिफरेंस*, एलन ऐंड अनविन, लंदन.
2. स्टीव फेंटन (1999), *एथनिसिरेसिज़म, क्लास ऐंड कल्चर*, मैकमिलन, बेसिंग्टोक.
3. एम. गिबर्नाउ और आर. जॉस (सम्पा.) (1997), *द एथनिसिटी रीडर : नैशनलिज़म, मल्टीकल्चरिज़म ऐंड माइग्रेशन*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. जे. हचिंसन और ए. स्मिथ (सम्पा.) (1996), *एथनिसिटी*, ओयूपी, ऑक्सफ़र्ड

— अभय कुमार दुबे

जाति और जाति-व्यवस्था-1

(परिभाषा की कठिनाइयाँ)

(Caste and Caste System-1)

जाति एक ऐसा समूह है जो प्रजाति या नस्ल से छोटा, जातीय समूह के समान और कई तरह से आदिजाति (आदिवासी समूह या जनजाति) से मिलता-जुलता है। यह एक ऐसा सामाजिक एकक है जिसका न्यूनतम अंतर्विवाही होना अनिवार्य है। यह भी आवश्यक है कि उस एकक के सदस्य जन्मना सदस्यता में बँधे हों, वे समान व्यवसाय करते हों और उनमें एक जाति पंचायत हो। अपना अलग नाम, उसके सदस्यों के नामकरण की कोई विशेषता और विशिष्ट वेशभूषा होने से भी उस एकक को अलग जाति के रूप में पहचान मिलती है। समाजशास्त्र की ज़्यादातर पाठ्यपुस्तकों में जाति को वर्ग की विपरीत श्रेणी में रख कर इसकी पुनरुत्कृत

परिभाषा दी जाती है। इस परिभाषा के अनुसार वर्ग एक खुली जाति है और जाति एक बंद वर्ग है। दरअसल, इस परिभाषा का मतलब केवल यह है कि दोनों एक जैसे ही हैं। अंतर है तो केवल इतना कि वर्ग की सदस्यता ज्यादा लचीली होती है, जब कि वर्ग जैसी गतिशीलता की जाति में कोई सम्भावना नहीं होती। जो जिस जाति में जन्म लेता है वह आजन्म उसी का सदस्य रहता है, जबकि वर्गों के सदस्य ऊपर-नीचे आ-जा सकते हैं। उल्लेखनीय यह है कि किसी भी समाज में दोनों ही सामाजिक श्रेणियों में बहुलता होती है और इसीलिए सामाजिक संरचना में उनके गठन की अपनी विशिष्टताएँ हैं। अधिकांश समाजशास्त्रीय साहित्य में जाति को एक सांस्कृतिक परिघटना के रूप में लिया जाता है। एक ऐसी परिघटना के रूप में जो केवल हिंदुओं से जुड़ी है। दरअसल, समाजशास्त्रीय विश्लेषण में जाति को एक संरचनात्मक संज्ञा मानना चाहिए जिसका एक विशिष्ट उदाहरण हिंदू समुदाय है। इसीलिए आदिजाति, जाति, और वर्ग में भेद किया जाना चाहिए। जाति-व्यवस्था की चर्चा करते समय हम एक से अधिक जातियों वाले समुदाय या समाज की चर्चा करते हैं; अन्यथा जाति, आदिजाति तथा प्रजाति में भेद नहीं किया जा सकता।

वर्ग की सीमाओं के कोई द्वारपाल नहीं होते, इसलिए वर्गों के नामकरण भी नहीं किये जाते। यही कारण है कि उन्हें पहचानना सहज नहीं होता। यह सही है कि एक शिशु का जन्म उसके जन्मदाता के चिह्नित वर्ग में होता है, पर वह अपने कृत्यों और कर्मों से ऊपर उठ सकता है या नीचे गिर सकता है, या यथावत रह सकता है। उसकी यह सामाजिक स्थिति उसके परिवार के स्तर पर निर्धारित होती है। जहाँ तक जाति का प्रश्न है वहाँ ऐसी गतिशीलता सिद्धांतरूप में वर्जित हैं। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जाति के स्तर के हिसाब से तय होती है न कि परिवार के स्तर के हिसाब से। इस दृष्टि से जाति कई परिवारों से मिल कर बनती है। वर्ग और जाति परस्पर जुड़ी हुई अवधारणाएँ हैं। लेकिन समझने की दृष्टि से यहाँ उन पर अलग-अलग विचार किया जाएगा। ऐसा करते हुए इस बात पर भी बल दिया जाएगा कि वर्ग एक श्रेणी है जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टि से जाति एक समूह है।

आदिजाति या जनजाति की परिभाषा पर आम सहमति नहीं बन पायी है क्योंकि सारे विश्व में फैले आदिजाति कहे जाने वाले समूहों में सांस्कृतिक सम्पर्कों के विभिन्न आयामों के कारण भारी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। न तो आज की सभी आदिजातियाँ निरक्षर हैं न ही सभी सर्वात्मवाद या एनिमिज्म की अनुसर्ता हैं। न ही इन्हें पुरातन अर्थव्यवस्था या प्रौद्योगिकी के स्तर पर एक समान माना जा सकता है। यह अवश्य है कि छोटे-छोटे और दूरस्थ बसे आदिवासी समूह अपने मूल स्थान से ही जुड़े हुए हैं और अंतर्विवाही हैं। ऐसे

मूल निवासियों में भी भारी परिवर्तन आ रहे हैं जिन्हें अंग्रेजी में इंडीजिनस या एब्रोजिनल कहा जाता है (जिन्हें मलय तथा इंडोनेशिया की भाषा में 'ओरांग असली' कहते हैं)। ऐसी परिवर्तनशील समाज प्रणालियों के लिए सर्वमान्य परिभाषा देना असम्भव सा है। उन्नीसवीं शताब्दी में सांस्कृतिक सम्पर्क में आये इन आदिवासी समाजों को पश्चिमी विद्वानों और उपनिवेशवादी राज्यों ने 'ट्राइब' की संज्ञा दी थी जो आज तक उन पर चस्पाँ है। पर परिभाषा की अब भी तलाश है।

यह सही है कि अंतर्वैवाहिकता या ऐंडोगैमी ही एक ऐसा लक्षण है जो एक आदिजाति को जाति-तुल्य बनाता है। अंतर्वैवाहिकता ही जन्मना स्थिति की आधारशिला है। लेकिन जाति को आदिजाति से भिन्न करने वाला यह है कि सम्पूर्ण आदिवासी समुदाय अंतर्विवाही होता है पर जाति-व्यवस्था में अंतर्विवाही जातियों का बाहुल्य होता है और अंतर-जातीय संबंध उसे आदिजाति समूह से भिन्न कर देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जाति की अवधारणा के दो पक्ष हैं : एकक के रूप में जाति और ऐसे कई एककों की प्रणाली के रूप में प्रचलित जाति-व्यवस्था। दुर्भाग्य से भारतीय संदर्भ में इस अंतर को ठीक से नहीं समझा गया है। जिसकी निंदा होती रहती है वह है जाति-व्यवस्था अर्थात् जातियों के बीच के अंतर्संबंध, खास कर इन समूहों को सोपानीकृत व्यवस्था के रूप में ढालना। लेकिन इस चक्कर कई विश्लेषक और जाति के आलोचक एकक के रूप में जाति को परिभाषित ही नहीं करते।

चूँकि भारत जाति-व्यवस्था का परम विकसित गढ़ माना जाता है, इसलिए यहाँ भारतीय संदर्भ में इन सब पक्षों पर विचार करते हुए जाति की सामाजिक-संरचनात्मक परिभाषा देने की चेष्टा की जाएगी।

भारत में जाति को गलत ढंग से समझा जाता रहा है। इस शब्द का प्रयोग न केवल आम आदमी बल्कि वैज्ञानिकों और पत्रकारों द्वारा भी अलग-अलग अर्थों में किया जाता रहा है। भ्रांति पैदा करने वाले तीन प्रयोग मुख्य हैं :

1. वर्ण : वर्ण हिंदू-समाज को मुख्यतः चार भागों में बाँटता है (चतुर्वर्ण)। ये वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। भारत में पायी जाने वाली समस्त जातियाँ सिद्धांतरूप में इन चार वर्णों में बँटी हैं। इस दृष्टि के मुताबिक वर्ण स्वयं जाति न होकर जातियों का समूह है। ऐसे ही नये समूह बन रहे हैं जैसे 'यादव' जो अखिल भारतीय संगठन बनाने में जुटे हैं पर जाति की दृष्टि से अब भी अपने-अपने प्रांतों और सांस्कृतिक उपक्षेत्रों तक ही सीमित हैं।

2. गोत्र : यह जाति के भीतर परिवारों को वर्गीकृत करता है। गोत्र एक बहिर्विवाही समूह है इसलिए एक ही गोत्र के लोग एक ही जाति के होते हुए भी आपस में विवाह नहीं

कर सकते। विवाह की दृष्टि से लोग अपनी ही जाति में किंतु अपने गोत्र से बाहर विवाह करते हैं। हरियाणा में होने वाली 'ऑनर किलिंग्ज' के अधिकतर किस्से सजातीय विवाह के कारण न होकर सगोत्र विवाह के हैं। वहाँ एक ही गाँव में एक ही जाति के होने पर भी विभिन्न गोत्रों के लोगों में विवाह की मनाही होती है क्योंकि सामाजिक दृष्टि से, न कि जैविकीय दृष्टि से, वे भाई-बहन जैसा संबंध निभाते हैं। इसे गाँव-बहिर्विवाह कहा जाता है, जिसका उल्लेख मध्य प्रदेश और राजस्थान के ग्राम-अध्ययनों में भी मिलता है। गोत्र को जाति का पर्याय मानना ग़लत है।

3. कई बार लोगों की पारिवारिक उपाधि या जन्मस्थल से जुड़ी सम्बोधन-संज्ञा को भी जाति मान लिया जाता है। यह भ्रामक है : भंडारी, खज्जांची, पडगाँवकर, मंगेशकर आदि पारिवारिक संदर्भ-संज्ञाएँ हैं, जाति-सूचक नहीं। ऐसे ही पंजाबी, बंगाली, मद्रासी आदि संज्ञाएँ उन क्षेत्रों की ओर इंगित करती हैं जहाँ से संदर्भित व्यक्ति आया है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से वर्ण, गोत्र, परिवार की उपाधि या क्षेत्र अथवा पेशे से जुड़ी संज्ञाओं को 'जाति' कहना ग़लत और भ्रामक है। वर्ण के स्तर पर भी कहा जा सकता है कि ब्राह्मण की शादी ब्राह्मण से ही होती है, इसलिए ब्राह्मण अंतर्वैवाहिकता की अर्हता के अनुकूल है। पर यह ग़लत है क्योंकि कई ब्राह्मण जातियाँ हैं और अंतर्वैवाहिकता उपजातियों तक ही सीमित है। यदि यह भेद ध्यान में न रखा गया तो हम 'भारतीय' को भी एक जाति मान लेंगे क्योंकि आम तौर से एक भारतीय की शादी एक भारतीय से ही होती है। समाजशास्त्रियों को चाहिए कि अंतर्वैवाहिकता को उस समूह पर निश्चित करें जिसके नीचे के समूह पर विवाह की सम्भावना न हो। उदाहरण के तौर पर यदि किसी जाति में गोत्र के भीतर ही विवाह होने लग जाँएँ तो फिर वह गोत्र की परिभाषा से हट कर एक जाति बन जाएगा और उसके भीतर नये बहिर्विवाही गोत्रों का सृजन आवश्यक हो जाएगा। यही कारण है कि बढ़ती जनसंख्या के साथ आज ऋषि-गोत्र को लोग उतनी तरजीह नहीं देते और लौकिक गोत्र को बहिर्विवाही मानते हैं।

इसी प्रकार जाति से बाहर, पर अपने ही वर्ण के भीतर, विवाह भी होने लगे हैं। यह अंतर्जातीय है, क्योंकि इनमें जाति और वर्ण दोनों की अंतर्वैवाहिकता बनी रहती है। यदि चार वर्णों के भीतर ही अंतर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ती चली जाए तो हज़ारों जातियों के स्थान पर घट कर केवल चार जातियाँ ही रह जाएँगी और तब वर्ण का स्वरूप जाति का हो जाएगा। इसी प्रकार अंतर-वर्णीय विवाहों की वृद्धि से व्यवस्था के रूप में जाति की संस्था में आमूलचूल परिवर्तन आयेंगे। और यह सिलसिला शुरू हो गया है।

जाति को परिभाषित करने में कई बाधाएँ हैं। इनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :

1. कई प्रकार की जातियाँ होने के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ : ध्यान रखना ज़रूरी है कि सभी जातियाँ एक ही प्रतिकृति के अनुसार नहीं ढली हैं। यह प्रणाली धीरे-धीरे विकसित हुई है और विभिन्न जातियों के उद्गम की विभिन्न कहानियाँ हैं। अलग-अलग प्रदेशों में, अलग-अलग जातियों की अपनी विशिष्ट कार्य-परम्परा है और एक ही प्रदेश में भी विभिन्न जातियों में एक से रीति-रिवाज़ नहीं होते।

2. अन्य जातियों के बारे में जानकारी का अभाव या उनके प्रति उदासीनता के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ : आम लोगों द्वारा वर्ण, जाति, गोत्र, उपजाति, धार्मिक समूह या प्रादेशिक समूह में भेद न कर पाने से जाति शब्द का इन विभिन्न समूहों के लिए प्रयोग होता रहता है।

3. 'आदर्श' और 'यथार्थ' के बीच अंतर से उपजी भ्रांतियाँ : आज के संदर्भ में चतुर्वर्ण का आदर्श चरितार्थ नहीं होता क्योंकि समस्त जातियों के बारे में यह कहना कठिन है कि कौन-सी जाति किस वर्ण से उत्पन्न हुई है। कालांतर में जो नयी जातियाँ उभरी हैं उन्हें भी चतुर्वर्ण के सोपानक्रम में अवस्थित करना कठिन है।

जाति की लोचनीयता और परिवर्तनशीलता से उत्पन्न कठिनाइयाँ भी हैं जो जाति को परिभाषित करने में बाधक हैं। इस आम धारणा के बावजूद कि जाति बड़ी कठोर और अलोचनीय है, भारतीय समाज के अध्येताओं ने ऐसी कई प्रक्रियाओं का पता लगाया है जिनके प्रभाव में जाति की सीमा-रेखाएँ बदलती गयी हैं। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ एक जैसे दिखने वाले समूह मिलकर एक हो गये हैं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ एक जाति बँट कर दो या अधिक जातियों को जन्म दे चुकी है। जाति से बहिष्कृत परिवारों द्वारा समुचित संख्या होने पर अपनी अलग जाति बनाने की मिसालें भी हैं।

यहाँ एक जैसा नाम होने से पैदा होने वाली कठिनाइयों का जिक्र भी ज़रूरी है। कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो उसके सदस्यों द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय के नाम से जानी जाती हैं। कुछ उस स्थान के नाम पर जानी जाती हैं जहाँ से उनके पूर्वज आये थे, या उस भाषा के आधार पर जानी जाती हैं जो वे बोलते हैं। इस संबंध में उदयपुर, राजस्थान के मोचियों का उदाहरण दृष्टव्य है। ये मोची गुजराती, मालवी और मेवाड़ी मोचियों में बँटे हुए हैं। उनमें आपस में बेटी-व्यवहार नहीं होता पर तीनों ही जूता बनाने के काम में लगे हुए हैं। एक और मजेदार बात यह है कि नया जूता बनाने वाले और पुराने जूतों को ठीक करने वाले दोनों ही मोची होते हुए भी दो भिन्न अंतर्विवाही समूहों के सदस्य हैं। अर्थात् वे एक ही जाति के नहीं हैं क्योंकि उनके बीच विवाह नहीं हो पाता और

वे भी ऊँचे-नीचे में स्तरीकृत होते हैं।

गत कई वर्षों में कुछ जातियों के श्रेष्ठ वर्ग अपनी जाति की कतिपय परम्पराओं से माँस, शराब, विधवा विवाह आदि को, और यहाँ तक कि अपने परम्परागत व्यवसाय को तज कर अपने जाति-नाम को भी बदलने में सक्षम साबित हुए हैं। जैसे उत्तर प्रदेश में नाई जाति को खवास भी कहा जाता था। पर जाति के कुछ सदस्यों ने उस शब्द का तत्सम रूप श्रीवास खोज निकाला और उसका प्रयोग करने लगे। यह नया नाम श्रीवास्तव से मिलता-जुलता है। इसलिए लोग श्रीवासों को कायस्थ भी मानने लगे। एम.एन. श्रीनिवास ने परिवर्तन की इसी धारा को संस्कृतीकरण का नाम दिया था जो मूलतः स्वतःस्फूर्त थी न कि ऊँची जातियों द्वारा थोपी गयी। अवश्य ही तथाकथित ऊँची जातियाँ ऐसी जातियों के संदर्भ समूह के तुल्य थीं।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, गोविंद सदाशिव घुर्गे, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. योगेश अटल (1979), *द चेंजिंग फ्रंटियर्स ऑफ़ कास्ट*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. जी.एस. घुर्गे (1957), *कास्ट ऐंड क्लास इन इण्डिया*, पॉपुलर बुक डिपो, बम्बई.
3. ई.आर. लीच (सम्पा.) (1960), *आस्पेक्ट्स ऑफ़ कास्ट इन साउथ इण्डिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— योगेश अटल

जाति और जाति-व्यवस्था-2

(तीन लक्षण)

(Caste and Caste System-2)

इन कठिनाइयों पर नज़र डालने से साफ़ हो जाता है कि जाति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ क्यों पायी जाती हैं। राजनीतिक दल इन भ्रामक धारणाओं का लाभ उठाते हुए जाति की सीमाओं के विस्तार में लगे हुए हैं क्योंकि लोकतंत्र में संख्या का महत्त्व है। समाजशास्त्री भी कभी तो जाति की एकक के रूप में और कभी एक व्यवस्था के रूप में परिभाषा देते आये हैं। कई ऐसे हैं जो इन दोनों की मिली-जुली विशेषताओं को

गिना कर रह जाते हैं। जी.एस. घुर्गे की परिभाषा भी कुछ ऐसी ही है— लक्षणों की सूची। जाति और वर्ण तथा जाति और उपजाति के लिए एक ही संज्ञा का उपयोग भी भ्रांत धारणाओं को प्रश्रय देता आया है। भारतीय भाषाओं में सब कास्ट के लिए कोई शब्द ही नहीं है। वर्ण को जाति और जाति को उपजाति मानना भयंकर भूल है।

जाति की एकक के रूप में परिभाषा एम.एस.एफ़. नाडेल के सुझाये तरीके से देना उचित होगा। नाडेल का कहना है कि प्रत्येक चिह्नित पद-स्थिति (जिसके लिए उन्होंने भूमिका या रोल शब्द का प्रयोग किया है) में तीन प्रकार के गुणों का स्तरण होता है। ये हैं परिधीय, समुचित-प्रासंगिक, तथा मूलभूत या धुरीय। परिधीय गुण या लक्षण वे हैं जिनके होने या न होने से या उनमें बदलाव आने पर भी भूमिका की प्रभावकारिता में कोई कमी नहीं आती। समुचित या पर्याप्त प्रासंगिक लक्षण वे होते हैं जिनके बदलने या अनुपस्थित होने पर भूमिका के अवबोधन और प्रभावकारिता में अंतर आता है और भूमिका का निर्वाह अपूर्ण सा रहता है। मूलभूत या धुरीय लक्षण वे होते हैं जिनके बदलने या न होने पर भूमिका की पहचान ही समाप्त हो जाती है। प्रचलित परिभाषाओं के वस्तु-विश्लेषण के आधार पर योगेश अटल ने एकक के रूप में जाति को इस प्रकार परिभाषित किया है : मूलभूत या धुरीय लक्षण के अनुसार किसी एकक का न्यूनतम अंतर्विवाही होना; समुचित-प्रासंगिक लक्षण के अनुसार उस एकक में जन्मना सदस्यता, समान व्यवसाय और जाति पंचायत होना; परिधीय लक्षण के रूप में एकक का अपना नाम, उसके सदस्यों के नामकरण की कोई विशेषता और विशिष्ट वेशभूषा होना।

इस परिभाषा के अनुसार समाज का वही समूह जाति कहा जा सकता है जो न्यूनतम स्तर पर अंतर्विवाही हो। 'न्यूनतम' उपसर्ग का इस परिभाषा के लिए महत्त्व है। जाति के स्तर के नीचे लोग जिन समूहों में बँट होते हैं वे बहिर्विवाही होने चाहिए। इस विशेषता के बिना जाति का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता, क्योंकि जाति ऊपर के अन्य समूह भी अंतर्विवाही होते हैं पर उन्हें जाति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। एक अन्य बिंदु की ओर ध्यान आकर्षित करना भी यहाँ आवश्यक है। किसी भी समूह को जब हम अंतर्विवाही कहते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि वह समूह यौन-साथी देने में समर्थ है; अर्थात् उस समूह के भीतर विवाह सम्भव ही नहीं वरन अपेक्षित भी होता है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि इस समूह के बाहर विवाह नहीं हो सकते। जब एक जाति किसी कारण दो हिस्सों में बँट जाती है तो भी उनमें अंतर्विवाह हो सकते हैं। इसी प्रकार हिंदू समाज में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन रहा है। अनुलोम विवाह वे होते हैं जिनमें ऊँची जाति का वर अपने से नीची जाति में

विवाह कर वधू लाता है। प्रतिलोम इसका ठीक विपरीत है जहाँ ऊँची जाति की कन्या नीची जाति के पुरुष से विवाह करती है और अपने पति की जाति में प्रवेश करती है। जिन स्थितियों में अणुलोम या प्रतिलोम विवाह की मनाही होती है और विवाह केवल जाति के भीतर ही सम्पन्न होते हैं उसे मैंने आइसोगैमी अर्थात् कठोर अंतर्वैवाहिकता की संज्ञा दी है। यह एक आदर्श स्थिति मानी जा सकती है। पर आज के दौर में जातिगत विवाहों के साथ ऐसे अंतरजातीय विवाह भी अधिकाधिक होने लगे हैं जहाँ अन्य जातियों से लायी गयी वधुएँ पति की जाति की सदस्य बन जाती हैं और उनकी संतानें पैतृक व्यवस्था के कारण पिता की ही जाति की जन्मजात सदस्य हो जाती हैं। न्यूनतम अंतर्वैवाही कहने का अभिप्राय यह है कि जाति के स्तर के नीचे उस समूह में कोई अंतर्वैवाही-एकक नहीं होते।

इस प्रकार जाति-एकक का मूलभूत लक्षण अंतर्वैवाहिकता है। समूह को न्यूनतम स्तर पर अंतर्वैवाही होना आवश्यक है। इस लक्षण का कठोरता से पालन करने वाले समूह आइसोगैमस यानी समयुग्मी अथवा पृथक-विवाही हो जाता है। अंतर्वैवाही समूह का एक अन्य पक्ष यह है कि वह बहिर्वैवाही समूहों में बँटा होता है, जिसे गोत्र या क्लैन कहा जाता है।

एक जाति की दर्शनीयता तब बढ़ जाती है जब उसके सभी सदस्य जन्मजात हों, एक ही व्यवसाय में संलग्न हों, और उस जाति की अपनी एक पंचायत हो। यदि किसी जाति का कोई विशिष्ट नाम है (जो किसी अन्य समूह का नहीं है) और यदि उस जाति के लोगों की अपनी विशिष्ट वेशभूषा है, या नामकरण की कोई खास पद्धति है, या कोई अन्य रीति-रिवाज है तो उसके आधार पर उसे अन्य जातियों से अलग पहचानने में सहाय्य होती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अंतर्वैवाहिकता मूलभूत लक्षण है, दूसरे लक्षण समुचित-प्रासंगिक हैं क्योंकि उनकी उपस्थिति से समूह की पहचान सहज हो जाती है। पोशाक और नाम जैसे लक्षण परिधीय हैं जिनके होने से पहचान और भी स्पष्ट हो जाती है पर जिनके न होने पर भी जाति की एक समूह के रूप में स्वायत्तता बनी रहती है। समुचित-प्रासंगिक लक्षणों में से किसी एक लक्षण का भी लोप होने पर जाति समूह की पहचान में थोड़ी कठिनाई होने लगती है, हालाँकि वह समूह तब तक जाति बना रहता है जब तक कि उसमें न्यूनतम अंतर्वैवाहिकता का नियम निभाया जाता रहता हो।

समाजशास्त्रियों को उपजाति शब्द के प्रयोग में भी सावधानी बरतानी चाहिए। जो लोग अंग्रेजी शब्द कास्ट का उपयोग वर्ण के लिए करते हैं वे जातियों को उपजाति की संज्ञा देने लगते हैं। वस्तुतः वर्ण के लिए कास्ट शब्द का प्रयोग गलत है, क्योंकि वर्ण जातियों का गुच्छा है। इसी प्रकार

उपजाति शब्द का प्रयोग जाति के भीतर के सभी समूहों के लिए भी नहीं किया जाना चाहिए। केवल उस स्थिति में जब जाति स्वयं विभक्त हो जाए तो मूल से टूटे हुए उस समूह के लिए (जो अंतर्वैवाही हो सकता है या है) उपजाति की संज्ञा प्रयोग में लायी जाती है। जाति में विच्छेद कई कारणों से हो सकते हैं। जैसे उसका कोई भाग किसी अन्य व्यवसाय में जुट जाए, या अपने मूलस्थान को छोड़ कर अन्यत्र बस जाए उदाहरण के लिए दक्षिण-पूर्वी पंजाब और उत्तर प्रदेश की कई जिप्सी जातियाँ अंतर्वैवाही समूहों में परिणत हो गयी हैं। यद्यपि वे पहले कभी एक ही सम्मिलित अंतर्वैवाही समूह का अंग थीं।

1931 की जनगणना में खटीक जाति का उल्लेख है जो बेकन वाला (सूअरमार), राज गर, सोमबट्टा, और मेवाफ़रोश उपजातियाँ बन गयीं। ये उपजातियाँ कुछ काल तक तो आपस में विवाह करती रहीं पर बाद में अंतर-विवाहकम होते गये और उनका स्वतंत्र अस्तित्व बन गया। इसका एक अच्छा उदाहरण बंगाल की कैबर्ता जाति का है— जो उत्तर-प्रदेश के केवट जैसी जाति ही है। इसकी अंतर्वैवाही सीमाएँ बंगाल तक ही थीं। हो सकता है कि ये समुदाय मूल रूप से आदिवासी हों पर अपने व्यवसाय के कारण और हिंदू गाँवों में रहने के कारण जाति की भाँति गिने जाने लगे हों। व्यवसाय की दृष्टि से ये दो भागों में बँटे थे : मछुआरे और कृषक। जो मछुआरे का काम करते थे उन्हें जलिया कैबर्ता कहा जाने लगा और जो हल चलाते थे उन्हें हलिया कैबर्ता। कृषि को उन्नत व्यवसाय मानने के कारण हलिया कैबर्ता अपनी लड़कियाँ ऊँचे वधू-मूल्य लेकर जलिया कैबर्ता में ब्याह देते थे, पर जलिया कैबर्ता की लड़कियाँ हलिया कैबर्ता को अस्वीकार थीं। इस प्रकार ये दो भाग प्रतिलोम विवाह-संबंध से जुड़े। धीरे-धीरे ऐसे अंतर-उपजातीय विवाह बंद हो गये और हलिया कैबर्ता ने अपना नाम बदल कर महिष्य रख लिया।

एकक के रूप में जाति किसी भी समाज या समुदाय का एक उपसमूह है। समाज या समुदाय के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कामों में ऐसी प्रत्येक जाति अन्य जातियों के साथ मिलकर भाग लेती है। उनकी यह भागीदारी नियमों से संचालित होती है। इस प्रणाली को हम जाति-व्यवस्था कह सकते हैं।

जाति-व्यवस्था को भी हम तीन लक्षणों में बांट सकते हैं। मूलभूत/धुरीय लक्षण जिसके तहत एक समाज-संस्कृति में कार्यरत अंतर्वैवाही समूहों का बाहुल्य होना चाहिए; समुचित-प्रासंगिक लक्षण जिनके मुताबिक इन जातियों का सोपानीकरण होना चाहिए; और परिधीय लक्षण जिनके अनुसार जाति से जुड़े व्यावसायिक विशेषीकरण के कारण श्रम-विभाजन होना चाहिए। जब ये तीनों ही लक्षण किसी

समाज-व्यवस्था में हों तो उसे जाति-व्यवस्था कहा जा सकता है। जाति शब्द का इस प्रकार प्रयोग करके उसे आदिजाति (जनजाति) से आसानी से अलग करके पहचाना जा सकता है। यह सही है कि एक आदिजाति में वे सब लक्षण पाये जाते हैं जो एकक के रूप में जाति में पाये जाते हैं। किंतु एक आदिजाति एक व्यवस्था के रूप में समझी जानी चाहिए क्योंकि उसके समुदाय में अन्य कोई जाति-समान एकक नहीं होते। दूसरे अर्थों में जाति-व्यवस्था के लक्षण उसमें नहीं पाये जाते। आदिवासी समाज जातियों में बँटा हुआ नहीं होता। लेकिन जब किसी आदिजाति के लोग पास के ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य जातियों के साथ रहने लगते हैं तो फिर वे भी उस ग्राम-व्यवस्था या क्षेत्र-व्यवस्था में एक एकक बन कर रह जाते हैं और जाति ही गिने जाते हैं। अन्य अंतर्विवाही समूहों की भाँति गाँव में रहने वाले आदिवासी परिवार भी एक अंतर्विवाही समूह बने रहते हैं और इस प्रकार जाति का रूप धारण कर लेते हैं। वे जाति-व्यवस्था का उपांग बन जाते हैं। यही कारण है कि गाँवों में रहने वाले आदिवासी परिवार जैसे राजस्थान के गाँवों में भील और मीणा एवं मध्य प्रदेश में गोंड भी एक भिन्न जाति मान लिए जाते हैं। उनका आदिवासी होना उनका अतीत है। उनका वर्तमान अपने क्षेत्र की जाति-व्यवस्था के एकक के रूप में हो जाता है। इनमें से कई तो अपने को हिंदू कहते हैं (क्योंकि हिंदू जीवन-पद्धति में धर्म परिवर्तन की प्रथा ही नहीं है)। जो धर्मांतरण कर ईसाई हो गये हैं वे भी जाति जैसा ही बरताव करते हैं। चूँकि आदिवासियों के लिए संविधान में विशेष सुविधाएँ और प्रावधान दिये गये हैं इसलिए उनका अतीत फिर से जाग रहा है या बाहरी प्रभावों से जगाया जा रहा है। हालाँकि गाँवों की व्यवस्था में वे अब भी जाति की भाँति ही हैं। ढाँचागत दृष्टि से ऐसे समूह को ही आदिजाति या ट्राइब कहना चाहिए जिसमें केवल जाति-एकक के लक्षण हों न कि जाति-व्यवस्था के।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, गोविंद सदाशिव घुर्ये, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. जे.एच. हटन (1961), *कास्ट इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली,
2. योगेश अटल (2006), *चेंजिंग इण्डियन सोसाइटी*, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर.

— योगेश अटल

जाति और जाति-व्यवस्था-3

(गैर-हिंदुओं में जाति और छुआछूत और जातियों का सोपानीकरण)

(Caste and Caste System-3)

जाति व्यवस्था ढाँचागत दृष्टि से केवल हिंदुओं तक सीमित न होकर कई समाजों में पायी जाती है। कोरिया के पाइकचोंग और जापान के इता समूह भी शूद्रों की भाँति उन देशों में निम्न कोटि के माने जाते हैं और इस दृष्टि से वहाँ भी जाति-व्यवस्था के अंकुर देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण में श्वेत-अश्वेतों के बीच के संबंध भी जाति-व्यवस्था जैसे ही हैं। भारत में भी धर्म परिवर्तन के बावजूद जाति व्यवस्था बरकरार है। ईसाइयत या इस्लाम अपनाने वाले लोग अब भी अपनी जाति के नाम से जाने जाते हैं। यही कारण है कि अब इन धर्मों को अपनाने वाले भी अपने अतीत के दलित को फिर से जाग्रत कर उन सब सुविधाओं की माँग कर रहे हैं जो अनुसूचित जातियों को मिल रही हैं। कारण कुछ भी हो, यह सब इस बात का सूचक है कि ऊँचे-नीचे का भेदभाव केवल हिंदू समाज तक ही सीमित नहीं है। सिक्ख धर्म, जैन धर्म, और बौद्ध धर्म जो हिंदू धर्म की कट्टरपंथिता के विरोध में चलाए गये आंदोलन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये वे भी जाति की भाँति ही बँटे हुए हैं। यही स्थिति इस्लाम और ईसाई धर्म को अपनाने वाले भारतीय समूहों की भी है। समानता की दुहाई देने वाला ईसाई धर्म भी कई सम्प्रदायों में बँटा है। उनमें भी अंतर्विवाही समूह हैं जिनके सदस्यों के भीतर की अंतर्विवाहिकता उनके जाति-एकक होने का लक्षण है। ढाँचागत दृष्टि से सर्वत्र बहिर्विवाह और अंतर्विवाह के नियम पाये जाते हैं। इसी प्रकार विवाह संबंधों के निषेध (निकटाभिगमन निषेध या इनसेस्ट संबंधी निषेध) भी प्रायः प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं।

श्यामाचरण दुबे का कहना है कि ईसाइयों और मुसलमानों में वर्ण विभाजन इतना स्पष्ट तो नहीं है पर उनमें भी ऊँची जाति से और नीची जाति से धर्म-परिवर्तन कर आये समूहों में भेद किया जाता है— ब्राह्मण और नायर ईसाई या फिर राजपूत या त्यागी मुसलिम के सम्बोधन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ईसाई धर्म अपनाने वालों के बारे में दुबे का कहना है : 'भारतीय चर्च अब यह मानने लगा है कि एक करोड़ नब्बे लाख भारतीय ईसाइयों का 60 प्रतिशत भेदभाव से पीड़ित है और उन्हें द्वितीय श्रेणी के या उससे भी ओछा ईसाई माना जाता है। दक्षिण में, अनुसूचित जातियों से बने ईसाइयों को अलग बस्तियों में रहना पड़ता है और उनका चर्च भी अलग है। उनकी चेरी या बस्ती मुख्य आबादी से थोड़ी दूर

होती है और उनमें सामान्य नागरिक सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं होतीं। चर्च में उन्हें दक्षिणी पंक्ति में अलग से खड़ा होना होता है और सर्विस के समय उन्हें धार्मिक ग्रंथ नहीं पढ़ने दिये जाते और न ही वे चर्च के पादरी की कोई सहायता कर सकते हैं। बपतिस्मा, कन्फर्मेशन और विवाह के समय उन्हें पवित्र सेक्रामेंट्स सबसे बाद में दिये जाते हैं। नीची जातियों से धर्म परिवर्तन कर बने ईसाइयों के विवाह की बारात या शवयात्रा आबादी की मुख्य सड़कों से नहीं जा सकती। ईसाई बनी अनुसूचित जातियों का कब्रिस्तान भी अलग होता है। उनके मृतकों के लिए चर्च का घंटा नहीं बजता और पादरी भी मृतक के घर प्रार्थना करने नहीं जाता। अंतिम संस्कार से पूर्व मृत शरीर को चर्च में भी नहीं ले जाने दिया जाता। ऊँची जाति और नीची जाति के ईसाइयों के बीच न तो विवाह होते हैं और न ही खान-पान के संबंध।' ईसाई और गैर-ईसाइयों के बीच विवाह करने वालों का तो एक नया समूह एंग्लो-इण्डियन ही बन गया, जो अंग्रेजों से गिने जाने वाले मिश्रित ईसाई थे।

मुसलमानों में भी मूल (असली) और धर्मांतरित मुसलमानों में भेद किया जाता है। लोग उन्हें शरीफ़ जात और अजलाफ़ जात कहते हैं। यह विभेद शादी और आपस में खानपान पर भी लागू होता है। अजलाफ़ जात (अर्थात् जातियों) में जुलाहा, भिश्ती, तेली, और कलाल आते हैं; मुसलमानों में भी त्यागी और गूजर होते हैं। ऐसे ही सिक्खों में भी रमदासिया और मजहबी नीची जाति के माने जाते हैं। यह बताना भी आवश्यक है कि शरीफ़ जात मुसलमान भी चार भागों में बँटे हैं: सैयद, शेख, मुगल और पठान। ये चारों ही अंतर्विवाही समूह हैं। एक तरह से देखा जाए तो मुसलमानों में अंतर्वैवाहिकता इतनी है कि वहाँ गोत्र जैसे बहिर्विवाही समूह होते ही नहीं। केवल नाभीय परिवार बहिर्विवाही होते हैं। चचेरे और मौसरे भाई-बहनों में जिन्हें चचाजात भाई कहा जाता है, भी विवाह हो जाते हैं। फुफरे और ममेरे में विवाह तो आम है।

गैर-हिंदुओं के बीच जाति और छुआछूत के बाद इस प्रविष्टि में जातियों के सोपानीकरण पर चर्चा की जाएगी। जातिगत समाज में होने वाले स्तरित विभाजन में अंतर्विवाही समूह (अर्थात् जाति) को एकक माना जाता है, किंतु यह विभाजन भी क्षेत्रीय स्तर पर होता है। भारत में भी तीन हजार से ऊपर गिनी जाने वाली जातियों को चतुर्वर्ण में वर्गीकृत करना आसान नहीं है।

जातियों का सोपानीकरण किसी भी समाजशास्त्री के लिए इतना सहज नहीं है। वर्णों में उनका विभाजन तो और भी कठिन है। स्थानीय स्तरों पर छुआछूत के प्रमाण ग्रामीण इलाकों में भले ही मिल जाएँ पर तेज़ी से शहरीकृत हो रहे भारत में यह सब कुछ तेज़ी से बदल रहा है। भारतविदों और

विदेशी पर्यटकों के बरसों पहले लिखे वर्णन आज की व्यवस्था से कोसों दूर हैं। पुस्तकों के वर्णन तो प्रस्तावस्वरूप थे और शायद अतीत की वास्तविकता से भी उतने निकट नहीं थे। आज के संदर्भ में उन पर विश्वास कर भारत की समाजिक व्यवस्था का वस्तुगत परिचय नहीं दिया जा सकता।

जिन समाजशास्त्रियों ने गाँवों में जाकर वर्तमान की स्थिति का अध्ययन किया उन्होंने चतुर्वर्णी व्यवस्था का आधार लेकर धार्मिक संस्कारों के अनुरूप जातियों का सोपानीकरण करने की चेष्टा की है। ऐसा करने के लिए दो तरह के रवैये अख़्तियार किये गये। (1) श्रेणीकरण की लक्षणात्मक आधार भूमि, और (2) अंतःक्रिया आधृत श्रेणीकरण। इन दो सिद्धांतों के आधार पर मेक्कम मेरियट ने भारत और पाकिस्तान के पाँच क्षेत्रों में तुलनात्मक दृष्टि से जाति का श्रेणीकरण किया। मेरियट ने इन सिद्धांतों को परिकल्पना कहा। यह लक्षणात्मक परिकल्पना मान कर चलती है कि किसी जाति की स्थिति उसके व्यवहार या लक्षणों पर आधारित होती है। इसके अनुसार जातियों की सोपान में स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी भिन्न-भिन्न जातियों के साथ कैसी अंतःक्रियाएँ होती हैं। उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में दो मुख्य अंतःक्रियाओं का चयन किया। भोजन का सांस्कृतिक दृष्टि से आदान-प्रदान, और धार्मिक सेवाओं का आदान-प्रदान। मेरियट का यह मानना था कि दक्षिण भारत में जातियों का स्तरण अधिकांशतः लक्षणात्मक है, जबकि उत्तर भारत में अंतःक्रियात्मक।

राजस्थान और मध्यप्रदेश के गाँवों का अध्ययन करते समय योगेश अटल ने मेरियट द्वारा सुझायी दोनों विधियों का प्रयोग कर जातियों को सोपानीकृत करने में आंशिक सफलता प्राप्त की। किंतु यह स्तरीकरण धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित था। इस तरह के सोपानीकरण एकरेखीय नहीं हैं और वे वर्ण व्यवस्था के क्रम से मेल नहीं खाते। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि गाँव के संदर्भ में जातियों के स्तरीकरण की अपनी सीमाएँ हैं, क्योंकि किसी भी गाँव में, ख़ास कर छोटे गाँव में, प्रत्येक जाति के परिवारों की सीमित संख्या होती है और मुख्यतया ये परिवार एक ही वंश के होते हैं। इसी कारण गाँव के भीतर ही विवाह भी नहीं किये जा सकते। वस्तुतः एकक के रूप में जाति एक क्षैतिज समूह है जो संलग्न गाँवों तक फैला होता है। अंतर्जातीय संबंध इसी कारण गाँव और क्षेत्र तक फैले होते हैं। इसी कारण जाति का अध्ययन एक क्षेत्र के स्तर पर अधिक उपयोगी है ताकि जाति-एककों के बीच की पारस्परिक अंतः क्रियाओं को भी समझा जा सके।

वैसे सामान्य से बड़े गाँवों और क़स्बों में जाति-व्यवस्था का अध्ययन किया जा सकता है, क्योंकि उनमें बहिर्विवाही समूहों की लगभग हर जाति में बहुतायत होती है और जातियों के बीच पारस्परिक संबंध धार्मिक संस्कारों के

क्षेत्र में तथा आर्थिक संबंधों के क्षेत्र में आसानी से देखे जा सकते हैं। 1950-60 के दशक में गाँवों के अधिकांश अध्ययन एक हजार या उससे कम की जनसंख्या वाले गाँवों में हुए हैं इसलिए क्षेत्रीय स्तर पर जातिगत पंचायतों और अंतर्जातीय संबंधों पर अधिक जानकारी नहीं मिलती है। इसीलिए दुबे, चौहान और मजूमदार जैसे ग्राम-अध्येताओं ने यह स्वीकार किया है कि ग्राम के लघुसमुदायों में जातियों का न होकर जाति के कतिपय प्रतिनिधियों का जातिगत सोपानीकरण भी देखा जा सकता है। प्रत्येक ब्लॉक, या दायरे में कुछ जातियाँ ऊपर होती हैं तो कुछ नीचे, और कुछ समान स्तर की ही होती हैं। इसीलिए ब्राह्मण वर्ग की जातियों का क्रमांकन और नीची जातियों का क्रमांकन भी एक-सा नहीं होता। उदाहरण के लिए कई जातियाँ चमड़े के व्यवसाय से जुड़ी हैं पर सभी एक ही स्तर की नहीं हैं। उनमें भी ऊँच-नीच का विभेदीकरण पाया जाता है।

अस्पृश्यता भी इसी कारण एक सापेक्षिक संज्ञा है। किसी को रसोईघर में आने देना, कच्चा या पक्का भोजन किनसे लेना है या नहीं लेना है, कच्चे और पक्के भोजन की परिभाषा, जल-ग्रहण, और शारीरिक स्पर्श आदि में अस्पृश्यता के नियम चलते हैं। सही मायने में अपस्पृश्यता शारीरिक स्पर्श से जुड़ी है और उसका सीधा संबंध व्यवसाय से है। गाँधी जिस अस्पृश्यता निवारण की चर्चा करते थे वह अस्पृश्यता उन लोगों से जुड़ी थी जो शहर का मल-मूत्र उठाते थे। निश्चय ही इसमें स्वास्थ्य और सफ़ाई के विचार हावी थे। अन्य जातियों से शारीरिक स्पर्श उतना बुरा नहीं था। वहाँ अस्पृश्यता घर के भीतर प्रवेश की सीमा या भोजन के छूने तक सीमित थी। उसमें भी पक्का भोजन कम दूषित माना जाता था और उच्च जातियाँ निम्न जातियों से उसे स्वीकार करती थी। हलवायी का पेशा, जो पक्की रसोई का ही था, करने वाली जातियाँ मध्यम श्रेणी की ही हुआ करती थीं। इन सब में क्षेत्रीय भिन्नताएँ पायी जाती हैं। चरम सीमा पर ऐसे क्षेत्र भी थे जहाँ अस्पृश्यों को मार्ग में निकलने की छूट तभी दी जाती थी जब कि उनके शरीर की छाया अधिक दूर तक न पड़े। इसीलिए दोपहर का समय चुना जाता था। दक्षिण भारत में मंदिरों में प्रवेश की जातिगत सीमाएँ होती थीं जिसमें मूर्ति के सबसे निकट ब्राह्मण जाति के लोग ही जाते थे और उनकी पहचान मस्तक पर लगे तिलक और यज्ञोपवीत से होती थी।

ग्राम-शोध से पता चलता है कि समस्त नीची जातियों को 'अस्पृश्य' या 'दलित' कहना सही नहीं है, क्योंकि अस्पृश्यता और दलन (अथवा शोषण) के कई प्रकार हैं। यहाँ यह कहना भी उचित होगा कि अंग्रेजों ने अपनी 1921-1931 की जनगणनाओं में पहली बार 'दलित' या ऑप्रेस्ड शब्द का प्रयोग निम्न समझी जाने वाली जातियों के लिए किया था। कुछ राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि यह प्रयोग उनकी 'चाल' का एक हिस्सा था। अपना वर्चस्व

बनाये रखने के लिए उन्होंने निम्न जातियों को एक जुट होने के लिए प्रोत्साहित किया। जनगणना का सहारा लेकर जैनों और सिक्खों को अलग धर्म की दर्जा दिया गया पर ईसाइयों को प्रोटेस्टेंट/कैथोलिक आदि में वर्गीकृत नहीं किया। ऐसा करना उनकी बाँटो और राज करो की कुख्यात रणनीति का एक अंग था जिसमें वे काफ़ी हद तक सफल हुए। देश छोड़ते समय न केवल उन्होंने भारत को खण्डित किया बल्कि भारतवासियों को जाति और वर्ण के सीखचों में फिर से धकेल दिया। स्वतंत्र भारत उनकी ही नीति को आगे बढ़ाता रहा। फलस्वरूप आज भी जाति की जड़ें गहरी पैठी हुई हैं।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, गोविंद सदाशिव घुर्गे, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिम्हचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूजटी प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. मेक्किम मेरियट (1960), 'इंटरएक्शनल ऐंड एट्रीब्युशनल थियरीज़ ऑफ़ कास्ट रेंकिंग', *मेन इन इण्डिया*, खण्ड 39, अंक 2.
2. जे.एच. हटन (1960), *कास्ट इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. एम.एन. श्रीनिवास (2002), *सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया*, ओरियेंट लॉंगमेन, नयी दिल्ली.
4. एम.एन. श्रीनिवास (1956), 'अ नोट ऑन संस्कृताइजेशन ऐंड वेस्टर्नाइजेशन', *फ़ॉर ईस्टर्न क्वार्टरली*, खण्ड 15, संख्या 4.
5. श्यामा चरण दुबे (2000), भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

— योगेश अटल

जाति और जाति-व्यवस्था-4

(प्रभुत्वशाली जाति और वोट बैंक)

(Caste and Caste System-4)

समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये ग्राम-शोध से यह पता चला कि गाँव के संदर्भ में धार्मिक सोपानीकरण और सम्प्रभुता के स्तरण में भेद किया जाना चाहिए। जो जातियाँ धार्मिक दृष्टि से ऊँची मानी जाती हैं वे सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से भी ऊँची या श्रेष्ठ हों यह आवश्यक नहीं है। बरसों से हम देखते आये हैं कि किसी भी राज्य की सत्ता क्षत्रियों या राजपूतों के पास रही है जो वर्ण की दृष्टि से ब्राह्मण से एक स्तर नीचा वर्ण माना गया है। बाहर से आये आक्रांता समूह भी किसी क्षेत्र विशेष पर विजय

प्राप्त करने पर शासक बन बैठे और स्वयं को राजपूत कहने लगे। गूजरो में बड़ गूजर और प्रतिहार इसका एक उदाहरण हैं। राजस्थान के मीणा लोग, जो एक आदिजाति समुदाय थे, इसी प्रक्रिया से जागीरदार और चौकीदार मीणा में विभाजित हो गये। यह तो स्वतंत्रता के बाद की राजनीति थी जिसके प्रभाव में मीणा लोग इस विभेद को समाप्त कर आदिवासी की श्रेणी में सम्मिलित कर लिए गये। अब गूजर भी उनकी देखा-देखी फिर से पीछे मुड़ कर अपना खोया अतीत जाग्रत करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह क्रम रुका नहीं है।

इस महत्वपूर्ण विभेद को समझने के लिए एम.एन. श्रीनिवास ने 1959 में प्रभुत्वशाली जाति की अवधारणा प्रस्तावित की। उनका मानना था कि 'संख्या की ताकत, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति, धार्मिक क्षेत्र में स्थिति और पाश्चात्य शिक्षा एवं व्यवसाय किसी जाति-समूह की सम्प्रभुता के सबसे महत्वपूर्ण तत्व हैं। इसके अतिरिक्त श्रीनिवास ने कुछ अन्य संगत कारक भी गिनाये हैं, जैसे लड़ाई-झगड़े के लिए बाहुबलियों को अपनी ओर रखना, जोर-जबरदस्ती के जरिये दहशत क्रायम करना, गाली बकना, मारपीट करना, कम पैसों पर काम करवाना और छोटी और कमजोर जातियों की स्त्रियों के साथ कामाचार करना। श्रीनिवास का कहना था कि ऐसी जातियाँ वोट बैंक का काम करती हैं। वोट बैंक की अवधारणा भी उन्हीं द्वारा स्थापित की गयी थी।

श्रीनिवास द्वारा सुझायी गयी दबंग जाति की अवधारणा वास्तव में लक्षणों की एक सूची मात्र है और यदि ये सारे के सारे गुण किसी भी जाति में पाये जाएँ तो निश्चित ही वह जाति इस विशेषण की हकदार होगी। लेकिन ज़मीनी हकीकत यह नहीं है। जिन्होंने श्रीनिवास की इस अवधारणा को गाँव की वास्तविक परिस्थिति में प्रयोग करना चाहा उन्होंने पाया कि संख्या की दृष्टि से प्रबल जाति सदैव ही धार्मिक धरातल पर ऊँची नहीं होती। दूसरी बात यह कि किसी भी जाति की संख्या सब गाँवों में एक-सी नहीं होती। कहीं कम परिवार होते हैं तो कहीं ज़्यादा। किसी भी गाँव में हम जिसे जाति कहते हैं वह वस्तुतः एक विस्तृत परिवार या एक वंश के परिवारों का समूह ही होता है। इसलिए दैनंदिन जीवन में किसी गाँव में जो घटता है वह उस पूरे क्षेत्र (जिसमें कि वह गाँव भी स्थित है) की राजनीति से बड़ा भिन्न होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में संख्या का महत्व होता है न कि धार्मिक स्थिति या आर्थिक बल का। यह सही है कि ज़्यादा पैसे वाले या धार्मिक दृष्टि से ऊँचे लोग नेतृत्व सम्भाल लेते हैं और चुनाव जीतने के लिए दलों के टिकट पाने के लिए सौदेबाज़ी भी करते हैं, पर कोई जाति वोट बैंक है या नहीं, यह उसकी संख्या पर निर्भर करता है। ग्राम-शोध से यह भी पता चला है कि जो समूह संख्या में जितना अधिक बड़ा होगा

वह गुटों में बँटा होगा और उसके राजनीतिक लगाव भी अलग-अलग होंगे। संख्या का आधिक्य समूह की सम्बद्धता को हानि पहुँचाता है।

श्रीनिवास की इस अवधारणा पर दुबे, अटल और उम्मन ने विस्तार से लिखा है। इन विद्वानों का विचार है कि इसके दायरे में गाँवों की वस्तुस्थिति नहीं समा सकती और यह तर्कसंगत भी नहीं है। टी.के. उम्मन का कहना है कि श्रीनिवास द्वारा सुलझायी ये चारों ही मान्यताएँ विवादास्पद हैं कि दबंग जाति एक सुगठित और एकमत समूह होती है, सत्ता किसी एक जाति में केंद्रित होती है, शक्ति केवल प्रदत्त लक्षण अर्थात् जन्मजात है और गाँव की शक्ति संरचना कभी बदलती नहीं है।

दुबे और अटल की आलोचना से सहमति जताते हुए उम्मन ने लिखा कि दबंग होने के लिए अपेक्षित साधनों के होते हुए भी जातियाँ परस्पर विरोधी गुटों में बँटी होती हैं और इस प्रकार उनके प्रभुत्व पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। जाति-व्यवस्था का विभिन्न इकाइयों में बँटना प्रत्येक जाति को कुछ सीमा तक स्वायत्तता प्रदान करता है। इससे सत्ता का छितराव होता है। यही कारण है कि ऐसे लोग जो किसी दबंग जाति के सदस्य नहीं हैं पर जिनके व्यक्तित्व में नेतृत्व करने की क्षमता है वे सत्ता हथिया लेते हैं। उम्मन मानते हैं कि सत्ता की सम्प्रभुता वाला पक्ष मानव प्रकृति के बारे में ग़लत धारणाओं को प्रश्रय देता है और सत्ता के उपादेय पक्षों को उपेक्षा करता है। यह महत्वपूर्ण है कि भारत का गाँव अलग-थलग नहीं है। वह अन्य गाँवों से जुड़ा है। इसलिए किसी भी जाति के दबदबे को क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। जाति के विषय में लिखे पुराने विवरण, और तथाकथित दबंग जातियों द्वारा ढाये जाने वाले अत्याचार सारे क्षेत्र की कहानी होते हैं। एक गाँव में संख्या की दृष्टि से बहुतायत वाली जाति आवश्यक नहीं कि क्षेत्र विशेष में उतनी घनी आबादी वाली हो। इसी प्रकार क्षेत्र विशेष में घनी जनसंख्या वाली जाति किसी गाँव में अल्पसंख्यक भी हो सकती है। दक्षिण में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम का आंदोलन पूरे क्षेत्र के ब्राह्मणों के विरुद्ध था। इस प्रकार यह एक जाति पर आक्रमण न हो कर पूरे वर्ण के लोगों पर था।

जब राजनीतिक दल वोट बैंक या जाति के राजनीतिक दबदबे की बात करते हैं तो वे कई गाँवों, क़स्बों या शहर के मोहल्लों तक फैले निर्वाचन क्षेत्र को ध्यान में रख कर यह चर्चा करते हैं न कि किसी एक गाँव या मोहल्ले को। जब वे जाति की संख्या का हवाला देते हैं तो वे जाति का नहीं, बल्कि एक-दूसरे से जुड़े जाति-समूहों के पूरे वोट, जैसे अनुसूचित जाति का वोट, राजपूत वोट, ब्राह्मण वोट या फिर मुसलिम वोट की बात करते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखे तो इनमें से किसी को अलग से जाति नहीं कहा जा सकता। कई समूहों की कोई समान लड़ी होने से वे जाति नहीं बन

जाते। श्रीनिवास ने भी उसी सादे अंदाज़ में जाति शब्द का प्रयोग किया है जिसे अनभिज्ञ लोग अपनी बोलचाल में जाति कहते हैं। जिस समय श्रीनिवास ने इस संज्ञा का उपयोग किया था, वे जाति संदर्भों से जुड़ी हिंसा, ज़मींदारों द्वारा ग़रीब और नीचे दूँ के लोगों के शोषण और पीड़ा से प्रभावित थे। इसलिए वर्गीकरण की इन बारीक़ियों को शायद उन्होंने नज़र अंदाज़ किया होगा। एक प्रतिष्ठित समाजशास्त्री की ज़ुलम से निकली ये अवधारणाएँ (दबंग/प्रभुत्वशाली जाति और वोट बैंक) लोगों ने आसानी से स्वीकार कर लीं और राजनीतिक विश्लेषण में एवं पत्रकारों द्वारा इनका निर्विवाद उपयोग किया जाता रहा। आज भी भारतीय राजनीति को जातियों की राजनीति और वोट बैंक की राजनीति मानने की ग़लती दुहरायी जा रही है।

राजनीतिक रणनीतिकारों और राजनीति का विश्लेषण करने वाले पत्रकारों ने ही नहीं वरन् कई समाजशास्त्रियों ने भी भारत की जटिल राजनीतिक संस्कृति को इन सरल और भ्रामक अवधारणाओं से समझने की और विश्लेषित करने की कोशिश की है। वस्तुपरक दृष्टि से देखें तो हमें अभीष्ट के लिए अपनायी गयी रणनीति और उसके प्रतिफल में अंतर करना होगा। ग़लत आधार पर जाति द्वारा चुनाव परिणामों का विश्लेषण करना और जाति को वोट बैंक की संज्ञा देना रणनीति का अंग हो सकता है पर चुनाव परिणामों की उचित व्याख्या नहीं। राजनीतिक क्षेत्र में परिधीय लक्षणों के आधार पर जाति की पहचान होने लगी है और उसके समुचित-प्रासंगिक लक्षण और मूल लक्षणों की बलि दी जा रही है। इन प्रयासों से जाति से ऊपर की संरचना के स्तर पर जाति की एकता स्थापित करने की चेष्टा हो रही है। जाति-कुलक की एकता जाति विशेष की एकता और उसकी विशिष्टता से भिन्न है। जाट वोट, यादव वोट या ब्राह्मण वोट की बात करते समय रणनीतिकार यह भूल जाते हैं कि ये जातियाँ नहीं, जातियों के वर्ण-सम कुलक हैं।

अपना मक़सद पूरा करने के लिए किसी समूह में एकता आरोपित करना, या कई समूहों को एक साथ जोड़ना राजनेताओं का काम है क्योंकि उन्हें चुनावों में संख्या की राजनीति खेलनी होती है। लेकिन ज़रूरी नहीं कि ऐसा बड़ा आरोपित समूह किसी राजनीतिक दल की इच्छा पूरी करे ही। समूह के समाजशास्त्र को यदि हम इस परिस्थिति में प्रयुक्त करें तो लगेगा कि वोट बैंक की राजनीति भ्रामक है। समूह के अध्येताओं ने यह पाया है कि जो समूह जितना ही बड़ा होगा वह उतना ही कम एकीकृत होगा। उसमें गुटबाज़ी होगी, छोटे-छोटे उप-समूह होंगे। कुछ बातों में वे सबके साथ होंगे तो कुछ अन्य बातों में उनमें मत-विभिन्नता होगी।

एक बात और है जब सभी राजनीतिक दल वोट बैंक की राजनीति करते हैं तो सभी के सभी संख्या की दृष्टि से

बलवान समूह या जाति-कुलक की ओर आशा भरी दृष्टि से देखते हुए उसे अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयास करते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयासों से कोई भी बड़ा समूह टूट कर विभिन्न मात्राओं में विभिन्न दलों के साथ जुड़ जाएगा और इस प्रकार उसकी वोट संख्या कई दलों में विभक्त हो जाएगी। इस प्रकार वोट-संख्या की राजनीति वोट-तोड़ की राजनीति बन जाएगी। विभिन्न राजनीतिक दल किसी एक निर्वाचन क्षेत्र में संख्या-बहुल जाति-समूह से ही अपना उम्मीदवार चुनते हैं। स्पष्ट है कि एक ही जाति-समूह से आये कई उम्मीदवार अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार उस समूह के मतों को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। ऐसी स्थिति में जीतने वाला भले ही बहुसंख्यक जाति का हो, उसकी जाति अन्य जातियों से उसे मिलाने वाले वोटों पर निर्भर करेगी जो अपनी जाति से होने वाले घाटे की पूर्ति करेंगे। ऐसी स्थिति में किसी एक जाति विशेष के व्यक्ति की जीत का पूरा श्रेय जाति की बहुसंख्या को देना भ्रामक होगा।

इस सब में यह तो निश्चित है कि हम जाति की शब्दावली का उपयोग जात्येतर एकता को पुष्ट करने हेतु कर रहे हैं। इस दृष्टि के अनुसार जातियाँ अपने स्तर की जातियों से या नाम-साम्य वाली अन्य प्रादेशिक जातियों से मिल कर एक नयी पहचान बना रही हैं। उस दृष्टि से वे अपनी क्षेत्रीय एकता से टूट भी रही है और अंतर्वैवाहिकता के दायरे को भी बढ़ा रही हैं।

जाति के नाम पर बनने वाले प्रादेशिक या अखिल भारतीय संगठन वस्तुतः वर्ण के स्तर पर हैं और मुख्यतः राजनीति के आंगन में उनकी महत्ता है। गाँवों में जातियाँ अपनी सीमाओं में अब-भी धार्मिक कृत्य और विवाह की दृष्टि से एकरूपता बनाये हुए हैं। राष्ट्रीय स्तर पर समान सामाजिक स्तर की जातियों का किसी संगठन में आबद्ध होना प्रांतीय और क्षेत्रीय स्तर पर जाति के कमज़ोर पड़ने का परिचायक भी है और परिवर्तन का सूचक भी। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि जाति के भीतर स्तरण न केवल धार्मिक दायरे में होता है वरन् धन और शक्ति के आधार पर भी। इस दृष्टि से जाति भी वर्गीकृत हो रही है और एक ही वर्ग के लोग अंतर्जातीय स्तर पर नयी अंतःक्रियाओं में जुड़ने लगे हैं।

आज की जाति की समझ के लिए शास्त्रीय मीमां पाये उपयोगी नहीं हैं। मनु ने जो भी नियम सुझाये हों, उनके पठन-पाठन से आज की जाति-व्यवस्था को नहीं समझा जा सकता। जो दल कभी तिलक, तीर, तलवार को नष्ट कर बहुजन समाज की चर्चा करता था वही आज तिलक से जुड़े ब्राह्मण वर्ण की जातियों को अपनी राजनीति में भागीदार बना रहा है। राजनीति की भाषा और आलोचना की पद्धति अतशियोक्ति की है। समाजशास्त्रीय विवेचन वस्तुस्थिति के निरपेक्ष अध्ययन की माँग करता है।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, गोविंद सदाशिव घुये, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूजटी प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. एम.एन. श्रीनिवास (1959), 'द डोमिनेंट कास्ट इन रामपुरा', *अमेरिकन एंथ्रोपोलॉजिस्ट*, खण्ड 61, अंक 1.
2. श्यामा चरण दुबे (1968), 'कास्ट डोमिनेशन ऐंड फ़ेक्शनलिज़म', *कांट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोसियोलॉजी*, एन.सी., खण्ड 2, अंक 2.
3. टी.के. उम्मन (1970), 'द कांसेप्ट ऑफ़ डोमिनेंट कास्ट : सम क्वैरीज', *कांट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोसियोलॉजी*, एन.सी., खण्ड 4.

— योगेश अटल

जातिसंहार

(Genocide)

यूनानी भाषा के शब्द जीनो (नस्ल या क़बीला) और लैटिन भाषा के शब्द साइड (हत्या करना) से मिल कर बने इस शब्द का मतलब है किसी जातीय, प्रजातीय, धार्मिक या राष्ट्रीय समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्यों का योजनाबद्ध संहार करना। पोलिश-यहूदी विद्वान राफ़ाएल लेमकिन ने इस पद की रचना की थी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान तुर्की की ओटोमन हुकूमत द्वारा अपनी ईसाई आबादी के संहार को देख कर लेमकिन ने इस दिशा में सोचना शुरू किया था। 1944 में कारनेगी इण्डाउमेंट फ़ॉर इंटरनेशनल पीस ने लेमकिन की रचन 'एक्सिस रूल इन ऑक्युपाइड युरोप' का अमेरिका में प्रकाशन किया जिसमें नाज़ियों द्वारा की गयी जातिसंहारी कार्रवाइयों को अंतर्राष्ट्रीय क़ानून के खिलाफ़ अपराध की तरह परिभाषित किया गया था। लेमकिन की यही परिभाषा बाद में न्यूरेमबर्ग ट्रायल्स के दौरान 24 नाज़ी नेताओं को अपराधी ठहराने का आधार बनी। मानवीय इतिहास जातिसंहार की घटनाओं से भरा पड़ा है। लेकिन बीसवीं सदी ने इस परिघटना को नया आयाम दिया है। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले तुर्की ने कई बार में आर्मीनियायी मूल के लोगों की हत्या की थी जिसके कारण आज भी इन लोगों का अधिकतर हिस्सा अमेरिका और अन्य युरोपीय देशों में रह रहा है। दरअसल, इस सदी में हुए जातिसंहार पैमाने के लिहाज़ से तो अभूतपूर्व हैं ही, हत्याओं के लिए अपनाये गये नियोजित और वैज्ञानिक तौर-तरीकों की भी गुजरे हुए ज़माने में मिसाल नहीं मिलती।

समाज-विज्ञान के अन्य पदों की तरह जीनोसाइड का इस्तेमाल भी कई बार अपनी दलील में प्रभाव पैदा करने या किसी भी तरह की संहारात्मक प्रवृत्ति की तरफ़ इशारा करने के लिए किया जाता है। जैसे, कल्चरल जीनोसाइड जैसी अभिव्यक्तियाँ भी गढ़ ली गयी हैं। लेकिन, हर तरह के हत्याकाण्डों को जातिसंहार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। जीनोसाइड की श्रेणी में आने के लिए हत्याओं का बहुत बड़े पैमाने पर होने के साथ-साथ उसके पीछे एक खास तरह का इरादा होना ज़रूरी है। जीनोसाइड तब होता है जब कोई सरकार या अन्य संगठित ताक़त या तो किसी समुदाय का सफ़ाया करने पर तुल जाती है या फिर उसके विनाश की परिस्थितियाँ पैदा कर दी जाती हैं। कौन सा हत्याकाण्ड जीनोसाइड है और कौन सा नहीं, यह एक विवादास्पद मसला है। मसलन, नाज़ियों द्वारा यहूदियों के सफ़ाये (होलोकास्ट) को जातिसंहार मानने पर शायद ही किसी को शक हो। पर, विचित्र बात यह है कि कम्बोडिया में पोल पोट द्वारा सत्रह लाख लोगों की हत्या को संयुक्त राष्ट्र तकनीकी रूप से जीनोसाइड नहीं मानता। दरअसल, यूनाइटेड नेशंस कन्वेंशन ऑफ़ द पनिशमेंट ऐंड प्रिवेंशन ऑफ़ द क्राइम ऑफ़ जीनोसाइड के अनुच्छेद 2 में दर्ज पाँच तरह की जातिसंहारी कार्रवाइयों के दायरे में वर्गीय और राजनीतिक हिंसा को जगह नहीं दी गयी है। 1948 में पारित इस कन्वेंशन में राजनीतिक समूहों द्वारा की जाने वाली हिंसा को शामिल करने का विरोध सोवियत नेता जोसेफ़ स्तालिन ने किया था। इस लिहाज़ से ख़मेर रुज द्वारा ही नहीं, सोवियत संघ में स्तालिन युग में की गयी लाखों लोगों की 'पर्जिंग' या चीन में सांस्कृतिक क्रांति और लम्बी छलाँग के दौरान मारे गये लोग भी जातिसंहार की श्रेणी में नहीं आते।

कन्वेंशन पारित होने के बाद 1951 में संयुक्त राष्ट्र के अस्सी सदस्य देशों ने इसके प्रावधानों को अपनी विधि प्रणाली में शामिल कर लिया। इसके मुताबिक़ जीनोसाइड की कार्रवायी के खिलाफ़ इन देशों के म्युनिसिपल लॉ के तहत भी क़ानूनी कार्रवायी की जा सकती है।

संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन द्वारा परिभाषित की गयी जीनोसाइड की पाँच श्रेणियाँ इस प्रकार हैं : किसी समुदाय के सदस्यों की हत्या करना, किसी समुदाय के सदस्यों को गम्भीर क्रिस्म की दैहिक या मानसिक हानि पहुँचाना, किसी समुदाय को जानबूझ कर कुछ ऐसी जीवन-स्थितियों के मातहत कर देना जिनके कारण उसका पूरा या आंशिक नाश हो जाए, किसी समुदाय में नयी पीढ़ी के जन्म को रोक देना, और किसी समुदाय के बच्चों को जबरिया दूसरे समुदाय में भेज देना। इस लिहाज़ से सामूहिक बलात्कार, जबरिया नसबंदी, मानसिक और शारीरिक यातना और एक जगह से दूसरी जगह जबरिया स्थानांतरण जैसी कार्रवाइयों को जातिसंहारीय नीतियों की संज्ञा दी जा सकती है।



जर्मन यातना शिविर में कैद यहूदी. न्यूरेमबर्ग मुकदमे के दौरान 24 नाजी नेताओं को यहूदियों के जाति-संहार का दोषी पाया गया. जाति-संहार के इस भीषण प्रकरण को होलोकॉस्ट के नाम से भी जाना जाता है.

मानवता के खिलाफ जघन्यतम अपराध समझे जाने वाले जातिसंहार की तरफ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए न्यूरेमबर्ग मुकदमों के दौरान विश्व-जनमत का ध्यान गया। आज जीनोसाइड की घटनाओं के प्रति विश्व-जनमत में अपेक्षाकृत अधिक चेतना देखी जाती है। अक्सर देखा गया है कि जातीय राष्ट्रवादी दुराग्रह, धार्मिक असहिष्णुता, विचारधारात्मक टकराव, राजसत्ता के लिए चलने वाले दीर्घकालीन संघर्ष जातिसंहार के कारण बनते हैं। कई मामलों में 'अन्य' की भीति पूरे के पूरे समुदायों के शारीरिक सफाये का कारण बनी है। आर्थिक तकलीफों, गृह युद्धों और राजनीतिक अस्थिरता के दौर में इस तरह की भीति राजनीतिक ताकतों को जीनोसाइड की तरफ धकेल देती है। बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में जीनोसाइड की परिस्थितियाँ बनाने वाली कार्रवाइयों को एक नया नाम भी मिला है 'एथनिक क्लीनिजिंग'। युगोस्लाविया के बिखरने के बाद कोसोवो में 1991 के बाद मीडिया में 'जातीय रूप से शुद्ध भू-क्षेत्रों' का जिक्र होने लगा था, क्योंकि कोसोवो के अल्बानियनों ने अपने इलाके को सर्बियन अल्पसंख्यकों से साफ कर दिया था। 1992 से 1995 के बीच बोस्नियाई मुसलमानों के खिलाफ की गयी सफाये की कार्रवायी में साफ तौर से जातिसंहारीय रुझान थे।

जीनोसाइड के खिलाफ राजनीतिक स्तर पर चेतना के अंतर्राष्ट्रीय प्रसार के बावजूद व्यावहारिक स्थिति यह है कि संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन पारित होने के बाद से आज तक होते हुए या हो सकने वाले जातिसंहार रोकने या उसके अपराधियों को सजा देने के मामले में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का रिकॉर्ड बहुत खराब है। उदाहरण के लिए 1994 में रवांडा के जातिसंहार पर संयुक्त राष्ट्र तीन महीने तक चर्चा करता रहा

और उसी के बाद वह तय कर पाया कि वहाँ जीनोसाइड चल रहा है। इस बीच करीब आठ लाख टुटिसियों को योजनाबद्ध ढंग से कत्ल कर दिया गया। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने भी इस नाकामी को स्वीकार किया है। रवांडा के जातिसंहार और 1992 से 1995 के बीच हुए बोस्नियन मुसलमानों के जातिसंहार के अपराधियों में से कइयों को गिरफ्तार किया गया है, पर उनमें से कुछ के ऊपर ही मुकदमा चल पाया है, और बहुत कम लोगों को सजा मिल सकी है। विरोधाभास यह है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून का एक पहलू ऐसे अपराधियों को सजा देने के लिए प्रतिबद्ध है, पर दूसरा पहलू

उन्हीं अपराधियों को बच निकलने के रास्ते प्रदान कर देता है। राष्ट्रीय सम्प्रभुता की सर्वमान्य धारणा भी पोल पोट, सद्दाम हुसैन, रादोवान कैरादजिक जैसे आरोपियों को कठघरे में आसानी से नहीं खड़ा होने देती। दस लाख से भी ज्यादा अमेरिकी आर्मीनियायी आज भी तुर्की द्वारा किये गए कत्ले-आम को जीनोसाइड घोषित करवाने का संघर्ष चला रहे हैं, पर तुर्की नाटो का सदस्य है इसलिए ऐसा नहीं हो पा रहा है।

जीनोसाइड के कई अध्येताओं के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के कन्वेंशन की भाषा स्वयं में बताती है कि वह दस्तावेज किस तरह से एक राजनीतिक और राजनियक समझौते का परिणाम है। बड़े पैमाने पर संहार करने वाले राजनीतिक और सामाजिक संगठनों को जीनोसाइड की परिभाषा से बाहर रखने की भी काफ़ी आलोचना हुई है। सुझाव दिया गया है कि जातिसंहार के अपराधियों पर चलने वाले मुकदमों अस्थायी क्रिस्म के ट्रिब्युनलों में चलाने के बजाय इस काम के लिए एक स्थायी संस्था बनायी जानी चाहिए।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, यूरोपीय संघ, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. जॉर्ज जे. आंद्रेपोउलस (सम्पा.) (1994), *जीनोसाइड* :

- कंसेप्चुअल ऐंड हिस्टोरिकल डायमेंशंस, युनिवर्सिटी ऑफ पेंसिलवानिया प्रेस, कनेक्टीकट.
2. फ्रेंक चाक, कर्ट जोनासन (1990), *द हिस्ट्री ऐंड सोसियोलॉजी ऑफ जीनोसाइड : एनालैसिस ऐंड केस स्टडीज़*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, 1990
 3. इरविंग होरोवित्स (2001), *टेकिंग लाइव्ज़ : जीनोसाइड ऐंड स्टेट पावर*, ट्रांज़ेक्शन पब्लिशर्स, 2001
 4. एरिक डी. वीट्ज़ (2003), *अ सेंचुरी ऑफ जीनोसाइड : यूटोपियाज़ ऑफ रेस ऐंड नेशन*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

— अभय कुमार दुबे

जातियों का राजनीतीकरण

(Politicisation of Castes)

जातियों की आधुनिक राजनीति में भूमिका हमेशा से विवादास्पद रही है। प्रचलित समझ यह है कि जब तक जातियाँ सार्वजनिक जीवन में पूरी तरह से प्रभावहीन नहीं होतीं, न तो भारतीय समाज का आधुनिकीकरण हो पायेगा और न ही सेकुलर राजनीति का विकास होगा। राजनीति के जातिवादीकरण की न जाने कितनी आलोचना हो चुकी है। लेकिन, रजनी कोठारी ने साठ के दशक में किये गये अपने एक संश्लिष्ट अध्ययन के जरिये राजनीति और जातियों की अन्योन्यक्रिया को समझने की वैकल्पिक दृष्टि का सूत्रीकरण किया है। वे कहते हैं कि 'राजनीति में जातिवाद' की परिघटना असल में 'जातियों का राजनीतीकरण' है। कोठारी का दावा है कि भारतीय जाति-प्रथा आधुनिक संसदीय राजनीति में भागीदारी करके समाज परिवर्तन की प्रक्रिया को अंजाम दे रही है। जाति और राजनीति के मेल के कारण बिना किसी भारी उथल-पुथल के समाज का सेकुलरीकरण जारी है। इसी वजह से लोकतंत्र में आम जनता सक्रिय हुई है और इस राज्य-व्यवस्था को उसकी विशिष्ट शकल मिल सकी है।

आधुनिकीकरण की परिघटना का भारतीय संदर्भ में अनूठा अध्ययन करने वाले रजनी कोठारी के अनुसार आधुनिकीकरण के मताग्रही बुद्धिजीवियों की दिलचस्पी यह देखने में ज्यादा होती है कि जातियाँ विलुप्त हो रही हैं या नहीं। जबकि उन्हें देखना यह चाहिए कि आधुनिक राजनीति के दबाव में जाति क्या रूप ले रही है और जातिगत समाज में राजनीति की शकल कैसी बन रही है। दरअसल, राजनीति एक ऐसी स्पष्टात्मक कार्रवायी है जो पहले से मौजूद और

नयी उभरती हुई निष्ठाओं की शिनाख्त करके उनका अपने हक में इस्तेमाल करती है। जाति और राजनीति को नज़दीक लाते हुए इस प्रक्रिया ने दोनों के रूपों को बदला है। संगठन के दायरे में जाति को लाते हुए राजनीति ने उससे अपनी अभिव्यक्ति की सामग्री प्राप्त की है और उसे अपनी योजना के मुताबिक ढाला है। जबकि जाति-समूहों ने राजनीति को अपनी गतिविधियों का केंद्र बना कर अस्मिता का दावा पेश करने और राज्य-तंत्र में अपनी स्थिति सुधारने का मौक़ा हासिल किया है।

इस सूत्रीकरण में उन बुद्धिजीवियों की भी आलोचना की गयी है जिनकी निगाह में राजनीतिक संबंध सामाजिक संबंधों की प्रतिच्छाया से अधिक कुछ नहीं होते। अर्थात् इन लोगों की समझ यह होती है कि राजनीति के गर्भ से सामाजिक संबंधों का पुनरुत्पादन तो हो सकता है, पर राजनीति खुद में समाज के मौजूदा अथवा बदलते हुए ढाँचे में कोई भूमिका नहीं निभाती। कोठारी यह भी मानने के लिए तैयार नहीं है कि भारतीय राजनीति में भागीदारी करके जाति का लोकतांत्रिक पुनर्जन्म हो गया है। वे कहते हैं कि सोचने के ये सभी तरीके जाति और राजनीति के प्रचलित 'अंतर्विरोध' से निकलने वाले द्विभाजन के शिकार हैं।

इस सिद्धांतीकरण में जाति के कुछ पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया गया है। इनमें पहला है जाति द्वारा स्वयं अपनी सीमाओं को लाँघने वाला पहलू (जाति-उत्तर अथवा सेकुलर पहलू) जिसे वे समाज के जाति-निरपेक्ष विकास के लिए हर तरह से प्रासंगिक मानते हैं। इस पहलू का मतलब है सजातीय विवाह, छुआछूत और रीति-रिवाज से परे जा कर होने वाली जातिगत दलबंदियाँ, जातिगत विभेद, विभिन्न तबकों के बीच गठबंधन और सामाजिक प्रगति की लगातार कोशिशें। ये गतिविधियाँ जाति-उत्तर संगठनों के जरिये चलती हैं। इनका शासकीय पहलू जाति-पंचायतों, ग्रामीण पंच फ़ैसलों की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। इसके राजनीतिक पहलू को जातिगत और अंतर्जातीय चौधराहट और सामाजिक दूँ से संबंधित विभेदों में देखा जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था के केंद्र के साथ स्थानीय प्रभु-वर्ग के प्राधिकारात्मक संबंधों के हिसाब से ये पहलू महत्वपूर्ण या महत्वहीन होते रहते हैं। कोठारी के अनुसार लोकतांत्रिक राजनीति न केवल वितरण और विग्रह की ओर ले जाती है, बल्कि सामूहिक कार्रवायी और सम्बद्धता को भी बढ़ावा देती है। जाति-प्रथा में भी ये दोनों पहलू हैं, पर उसके अध्ययनों में विभेदीकरण और विभाजन पर ज्यादा जोर देते हुए जुड़ाव और संघटन वाले पक्षों की उपेक्षा की जाती है। राजनीति जाति से जुड़ कर उसके दोनों पहलुओं को प्रभावित करती है। वह जाति के जोड़ने वाले आयाम को प्रभावी बनाती है और इसी प्रक्रिया

में निहित विग्रहकारी अंदेशों को भी एक व्यापक संदर्भ में उभार देती है।

कोठारी भारतीय लोकतांत्रिक राजनीति को मूलतः आवश्यकताओं की राजनीति के रूप में परिभाषित करते हैं। जाति-प्रथा ने राजनीतिक नेतृत्व को गोलबंदी के लिए संरचनात्मक आधार दिया जिससे राजनीति को विभिन्न तबकों के प्रतिनिधि संगठन मिले और पहचान का वह पैमाना मिला जिसके माध्यम से समर्थन को धरती पर उतारा जा सकता था। इसके बदले स्थानीय दावों के साथ नेतृत्व को रियायती सुलूक करना पड़ा। उनके बीच सत्ता की आकांक्षा को लेकर बनी सहमति को मान्यता देनी पड़ी। इस तरह जातियाँ आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए संगठित हुईं। उन्होंने आधुनिक संस्थाओं के साथ एक चयनात्मक अन्योन्यक्रिया करनी शुरू की। इसने सबसे पहले जाति-प्रथा की सत्तामूलक संरचना को आधुनिकीकरण की धारा में खींचा। फिर आर्थिक लाभों के वितरण की बारी आयी। इन दोनों के बीच एक आंतरिक सूत्र था। इस प्रक्रिया का तीसरा कोण था जातिगत चेतना और पहचान का।

शुरू के दौर में केवल ऊँची जातियों के कुछ लोगों ने ही इस अन्योन्यक्रिया में भाग लिया। इस प्रक्रिया में पहले से जमी बैठी ऊँची जातियों का मुकाबला उदीयमान जातियों से हुआ। इससे जाति-राजनीति का द्विपक्षीय ढाँचा पैदा हुआ। इसके बाद आया दूसरा चरण। सत्ता की आकांक्षा और आर्थिक लाभों की माँग मौजूद संसाधनों से आगे बढ़ गयी। स्पर्धारत समूहों को अपने जनाधारों की ताकत बढ़ानी पड़ी और सत्ताक्रम में जमे बैठे मुखर तबकों के भीतर भी होड़ शुरू हो गयी। इस दौर को जातियों के टूटने और दलबंदी का दौर भी कहा जा सकता है। वर्चस्ववाली जातियों के भीतर दलबंदी होते ही राजनीतिक संगठन का एक नया ढाँचा उभरा। नेतृत्व में दरारें पड़ने लगीं। बहुजातीय और बहुगुटीय गठजोड़ सामने आने लगे। उन जातियों को भी पटाया जाने लगा जो अभी तक सत्ता के ढाँचे से दूर रखी जाती थीं। इस परिघटना ने जाति-प्रथा का सत्तामूलक ढाँचा और पेचीदा बना दिया। उसमें अंतरसंबंधों का जाल पहले से कहीं बारीक हो गया।

उच्च स्तर पर विभिन्न वर्चस्व वाली जातियाँ आमने-सामने आ गयीं। आंध्र में कम्मा और रेड्डी, गुजरात में पट्टीदार और अन्नावल, मैसूर में लिंगायत और वोक्कल्लिगा, मद्रास में जिला और क्षेत्रीय स्तर की कई ताकतवर जातियाँ, बिहार में रंग-रुतबे वाली जातियाँ राज्य स्तर पर एक-दूसरे के मुकाबले लामबंद हो गयीं। इस स्तर पर जाति को नये तरह के विखण्डन से गुजरना पड़ा। कहीं जाति-सभाओं के रूप में, कहीं जाति-संघों के रूप में और कहीं दलबंदियों के रूप में यह गुट विभाजन हुआ। यह बँटवारा वंशानुक्रम और पूजा-

पद्धतियों के आधार पर चले आ रहे बँटवारे का अक्सर इस्तेमाल करता था लेकिन वह इससे परे भी जा चुका था। इसी कारण से राजनीति में व्यक्तियों और व्यक्तिगत संबंधों का महत्त्व बढ़ा। जनाधार विस्तृत करने के लिए निष्क्रिय पड़ी जातियों के नेताओं को अपनी ओर खींचने का सिलसिला शुरू हुआ। जैसे-जैसे अधिक विविध और जनाधारित राजनीति का जमाना आया, वैसे-वैसे अधिक विस्तृत जनाधार की ज़रूरत पड़ी। उसके लिए नये तरह की प्रबंधात्मक और सांगठनिक कौशल की ज़रूरत थी। यही कारण था कि ब्राह्मणों और प्रशासनिक कामकाज वाली जातियों के साथ-साथ व्यापारिक पेशों और भूमिधर जातियों के लोग राजनीति में ज़्यादा आने लगे। इन लोगों के पास व्यक्ति-प्रबंधन का संस्कार कहीं ज़्यादा गहरा था। व्यावहारिक रवैये वाले ये लोग समस्याओं को लेन-देन के ज़रिये निबटाने में यत्नीन रखते थे। वे अपनी जातियों में नवीन एकजुटता का आह्वान भी कर सकते थे। इसके लिए उन्हें अपनी पारम्परिक हैसियत का पुनः सूत्रीकरण करने और आकर्षक ब्राह्मण विरोधी सूत्रीकरणों का सहारा लेने में भी हिचक नहीं होती थी।

ये नये तत्त्व राजनीति के नये उद्यमी और आविष्कारक थे। ये अपने पूर्ववर्ती प्रभुवर्ग के मुकाबले कम 'आधुनिक', कम प्रशिक्षित, ग्रामीण पृष्ठभूमि में रमे हुए, अधिक सरलीकृत और परम्परागत मुहावरे को अपनाने वाले थे। लेकिन उनमें संगठन और समस्याओं के व्यावहारिक मूल्यांकन की क्षमता थी। वे जोखिम उठाने के लिए तैयार थे और प्रौद्योगिकी व संगठन के 'आधुनिक' माध्यमों का उपयोग करते थे। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के अध्ययन के लिए यह तथ्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस थीसिस के अनुसार राजनीति को जाति की जगह लेने वाले या उसे नष्ट करने वाले सेकुलर सामाजिक कारक की तरह न देख कर विकासशील समाज-व्यवस्था पर संघटन और विभाजन लागू करने वाले योजनागत आधार के रूप में देखा जाना उचित होगा। राजनीति के संसर्ग में जाति-अस्मिताओं ने स्वयं को नये रूपों में व्यक्त किया है। जाति का कर्मकाण्डीय और पूजा-पद्धति संबंधी महत्त्व घटा है। समाज व्यवस्था के नीतिगत मूल्य बदल गये हैं।

इस प्रतिपादन की यह कहकर आलोचना की जाती है कि चुनाव प्रणाली ने जाति अस्मिताओं को नया जीवन प्रदान कर दिया है। इसके जवाब में कोठारी कहते हैं कि यह एक नयी समझ है, पर इसका मतलब ग़लत निकाला गया है। जातिगत गणित का महत्त्व इसलिए बढ़ा है कि राजनीतिक सत्ता के एकमात्र आधार के रूप में जाति की वैधता का क्षय हो गया है। जातिगत गणित की उस समय ज़रूरत नहीं थी जब कुछ जातियों के लोग ही सत्ता के दावेदार थे। जाति

अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण राजनीति के लिए अप्रासंगिक थी। आज वह सत्ता के लिए व्यावहारिक होड़ में अन्य तत्त्वों की भाँति राजनीति की दुनिया को प्रभावित करने वाला एक तत्त्व मात्र रह गयी है।

देखें : आशिस नंदी-1 और 2, आधुनिकीकरण, कांग्रेस 'प्रणाली', जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था- 1 से 4 तक, धीरूभाई शेट, परम्परा की आधुनिकता, पार्थ चटर्जी, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2003), 'जातियों का राजनीतीकरण', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
2. लॉयड आई. रुडोल्फ (1965), 'दि मॉडर्निटी ऑफ़ ट्रेडिशन : द डेमोक्रेटिक इनकारनेशन ऑफ़ कास्ट इन इण्डिया', *द अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू*, खण्ड 61, अंक 4.
3. लॉयड आई. रुडोल्फ और सूज़न होवर रुडोल्फ (1960), 'दि पॉलिटिकल रोल ऑफ़ इण्डियाज़ कास्ट एसोसिएशंस', *पेसिफिक एफ़ेयर्स*, खण्ड xxxiii, अंक 1.
4. गोपाल कृष्ण (1967), 'इलेक्टोरल पार्टीसिपेशन ऐंड पॉलिटिकल इंटिग्रेशन', *ईपीडब्ल्यू*, सालाना विशेषांक, खण्ड 2.

—अभय कुमार दुबे

जादू

(Magic)

प्रचलित और सामान्य अर्थ में जादू एक ऐसा अनुष्ठान या कर्मकाण्ड है जिसके पीछे यह विश्वास होता है कि वह शब्द और कर्म के जरिये इच्छित की पूर्ति कर सकता है। इसलिए जादू की मान्यता में अनुष्ठान के अलावा विश्वासों की व्यवस्था भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। आधुनिक समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में जादू की अवधारणा पर कई सैद्धांतिक कोणों से विचार किया गया है। अध्येताओं ने जादू को विज्ञान के आद्य तथा धर्म के एक अपभ्रंश रूप, सामाजिक प्रकार्य तथा एक सार्वभौम संरचना के स्तर पर समझने का प्रयास किया है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों टेलर तथा फ्रेज़र ने जादू की बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में पड़ताल करने की कोशिश की थी। उनकी दिलचस्पी इस बात में थी कि क्या जादू को ज्ञान का एक रूप माना जा सकता है। वे इस बात की तह में जाना चाहते थे कि जादू यथार्थ को उसके प्रदत्त रूप के अलावा किसी अन्य रूप में

प्रतिस्थापित करने का दावा क्यों और किस तरह करता है। साथ ही वे उसकी सांगठनिक संरचना को भी समझना चाहते थे।

टेलर और फ्रेज़र की स्थापनाओं का सामान्यीकरण किया जाए तो उनकी दृष्टि में जादू विश्व या अस्तित्व-बोध की छलपूर्ण व्यवस्था है जिसे वे सामान्यतः प्रगति की एक आदिम अवस्था के साथ जोड़कर देखते हैं, जो अज्ञानता के कारण युरोपीय समाज के निम्न वर्गों में अभी तक मौजूद है। उनकी नज़र में युरोप मनुष्य की प्रगति का केंद्र बिंदु था लिहाजा वे दुनिया के शेष समाजों का मूल्यांकन इसी आधार पर करते थे। फ्रेज़र मानवीय प्रगति को तीन चरणों जादू, धर्म तथा विज्ञान में बांटकर देखते हैं। उनके अनुसार जादू मानव प्रगति का पहला और आदिम चरण है जिसमें मनुष्य को यह लगता है कि वह प्रकृति की व्यवस्था में अपने शब्दों, पराक्रम और संकेतों से हस्तक्षेप कर सकता है। लेकिन जब उसे ये सभी प्रयास निष्फल लगने लगे और उसने पाया कि जादू की विधियों का प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा तो उसे यकीन होने लगा कि प्रकृति असल में कुछ शक्तियों के अधीन काम करती है। इसके बाद उसने इन शक्तियों की उपासना करने या उनके साथ समझौता करने का रास्ता चुना। प्रार्थना और बलि की व्यवस्था उसके विचारों में आये इसी बदलाव की ओर इंगित करते हैं।

फ्रेज़र का क्रयास है कि धर्म की उत्पत्ति इसी प्रक्रिया के तहत हुई होगी। विज्ञान को फ्रेज़र मानवीय प्रगति का तीसरा और अंतिम चरण मानते हैं जब मनुष्य ने यह समझना शुरू किया कि प्रकृति के नियमों की सही समझ हासिल करके उसकी व्यवस्था में बदलाव किया जा सकता है। फ्रेज़र जादू के तत्त्वों की विशद व्याख्या करते हुए बताते हैं कि जादू समरूपता और सम्पर्क के सिद्धांतों पर काम करता है। समरूपता से उनका अभिप्राय यह है कि दो समरूपी चीज़ें आपस में मिलकर जो रचती या पैदा करती हैं वह भी उन जैसा ही होता है। उदाहरण के लिए शत्रु को मारने के लिए उसके पुतले या छवि को मारना, वर्षा के लिए जल छिड़कना या अच्छी पैदावार के लिए खेत में गर्भवती स्त्री से बीज डलवाना आदि। सम्पर्क के नियम इस विश्वास पर आधारित हैं कि व्यक्ति जिन चीज़ों का इस्तेमाल करता है उनमें उस व्यक्ति का अंश रह जाता है। इसलिए अगर उस व्यक्ति की वस्तुओं— नाखून, कपड़ों तथा पदछाप आदि को जादू का उपकरण बनाया जाए तो संबंधित व्यक्ति पर वैसा ही असर पड़ता है।

फ्रेज़र का मानना है कि जादू के सिद्धांत और उसके व्यावहारिक रूप हर जगह और हर काल में एक जैसे रहते हैं। वह चाहे आधुनिक युरोप हो या प्राचीन मिस्र का समाज। फ्रेज़र जादू और धर्म को पृथक अवधारणाएँ मानते हैं। जादू

और विज्ञान की तुलना करते हुए वे प्रतिपादित करते हैं कि जादू में भी कार्य-कारण की प्रक्रिया अपनायी जाती है लेकिन वह विज्ञान से इस मायने में अलग होता है कि उसमें कारणों को ग़लत ढंग से लागू करने का प्रयास किया जाता है। मसलन जादू की प्रक्रिया इस धारणा पर आधारित होती है कि एक जैसी दिखने वाली वस्तुएँ वास्तव में समान होती हैं या फिर सम्पर्क में रही हुई वस्तुओं का व्यक्ति के साथ हमेशा एक ही तरह का संबंध बना रहता है। इन संबंधों में विचार करते हुए फ्रेज़र अंत में यह घोषणा करते हैं कि जादू विज्ञान की एक अवैध बहन है।

जादू के अकादमिक अध्ययन में फ्रेज़र का स्थायी योगदान इस तरह देखा जा सकता है कि बाद के अध्येताओं ने भले ही मानवीय प्रगति के समीकरण को उसी रूप में स्वीकार न किया हो लेकिन जादू और विज्ञान के अंतःसंबंधों का उनका अध्ययन परवर्ती विद्वानों के लिए एक स्थायी संदर्भ साबित हुआ है। प्रतीकवादी मानवशास्त्रियों जैसे बैटी, विक्टर टर्नर तथा क्लिफ़र्ड गीट्ज़ आदि का मानना है कि जादू में निहित ज्ञान की दावेदारी को सत्य या असत्य की कसौटी पर न कस कर उसे एक प्रतीक-व्यवस्था के तौर पर देखा जाना चाहिए क्योंकि वह मनुष्य के अवचेतन के स्तर पर सामूहिक मूल्यों, सामाजिक टकरावों तथा अस्तित्व की समस्याओं को ज्ञापित करता है।

मानवशास्त्री विल्हेम शिम्ट जादू को मानव विकास का प्रारम्भिक क्षण न मानकर उसे मनुष्यता के एकदेववाद के पतन की परिघटना मानते हैं। लेकिन बाद के अध्येताओं के अनुसार शिम्ट का नज़रिया धार्मिक विश्वासों से रंजित था, और वे एक तरह से बाइबल की कहानियों को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने की इच्छा से ज़्यादा प्रेरित थे। रुडोल्फ़ ऑटो तथा मर्चिया ऐलियाडे आदि जैसे विद्वान जादू को धर्म के संदर्भ में रखकर देखते हैं। उनका मानना है कि जादू और धर्म दोनों ही पवित्र सत्ता के साथ एक अस्तित्ववादी अनुभव की बात करते हैं। लेकिन इसी धारा के अन्य विद्वान जादू को धार्मिक जीवन के उच्चतम रूपों का एक आदिम क्षण भी मानते हैं और इसी आधार पर उसे धर्म की ड्योढ़ी के तौर पर भी परिभाषित करते हैं।

मानव प्रगति की धारा के विपरीत मैलिनोव्सकी जादू, धर्म तथा विज्ञान के अध्ययन के लिए एक अलग पद्धति अपनाते हैं। वे जादू को मानव प्रगतिवाद की तार्किक त्रुटि नहीं मानते और जादू, धर्म और विज्ञान को क्रमानुगत समीकरण के रूप में नहीं देखते। उनके अनुसार सामाजिक ताने-बाने में ये तीनों ही श्रेणियाँ एक साथ मौजूद रहती हैं और अपने-अपने ढंग से व्यक्ति और समाज की ज़रूरतों का पूरा करती हैं। मैलिनोव्सकी जादू को विज्ञान के दायरे में न रख कर उसे धर्म का अनुषंग मानते हैं लेकिन वे इस बात को

लेकर भी सजग हैं कि जादू और धर्म के बीच की भिन्नताओं को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार जादू का इस्तेमाल प्रकट और विशिष्ट समस्याओं को हल करने के लिए किया जाता है जबकि धर्म एक ज़्यादा जटिल संरचना है जिसका जीवन की सार्वभौम समस्याओं और गूढ़ अर्थों को खोलने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन अगर दोनों की साझी उपयोगिता पर एक साथ विचार करें तो जादू और धर्म मनुष्य की चेतना का अंग तब बनते हैं जब मनुष्य खुद को यथार्थ के सामने अक्षम पाता है। इस तरह जादू और धर्म चिंता और भावनात्मक तनाव की स्थिति में पैदा होते हैं लिहाज़ा उन्हें ऐसी स्थितियों से मुक़ाबला करने के उपाय के तौर पर भी देखा जा सकता है। मैलिनोव्सकी ने ट्रोब्रायंड द्वीपसमूह के मूलनिवासियों के अध्ययन में पाया था कि ये लोग तकनीकी और जादू में फ़र्क़ करना जानते थे। अपने अध्ययन से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मूलवासी जादू की सहायता तभी लेते थे जब वे परिणामों को लेकर आशंकित रहते थे।

दुर्खाइम और मार्सेल मौज़ जैसे समाजशास्त्री जादू को एक सामाजिक परिघटना की तरह देखने का आग्रह करते हैं। उनके चिंतन में जादूगर और उसका जादू धर्म या धर्मसेवकों के समूह की तरह सामाजिक चेतना से ही पैदा होता है। धर्म की भांति जादू भी विश्वास और व्यवहार की एक ऐसी व्यवस्था है जो किसी भाव, वस्तु, विचार या सत्ता को पवित्र मानती है। मौज़ जादू के अंतर्निहित तत्वों—वैयक्तिकता, गोपनीयता, रहस्य तथा उसके मक़सद उपयोगितावाद, के आधार पर यह सम्भावना भी व्यक्त करते हैं कि विज्ञान की कई शाखाएँ जैसे औषधि विज्ञान और धातु विज्ञान आदि जादू की प्रक्रिया और व्यवहार से ही जन्मे होंगे। दुर्खाइम की राय में भी धर्म और जादू दो अलग-अलग क्षेत्र हैं। उनके अनुसार धर्म का चरित्र सार्वजनिक होता है और वह अमूर्तन व तत्त्ववाद की तरफ़ झुका होता है। इन्हीं कारणों से धर्म नैतिक आदर्शों में यक़ीन करने वाले एक समुदाय का निर्माण करता है जबकि जादू का कोई पवित्र स्थान चर्च, मंदिर या मसज़िद नहीं होता।

जादू के स्वयं-भूत औचित्य को नकारते हुए रैडक्लिफ़ ब्राउन तथा इवांस प्रिचार्ड जैसे मानवशास्त्री धर्म और जादू के युग्म को एक अनुपयोगी श्रेणी मानते हैं। उनकी दलील है कि जादू को सामाजिक संरचना के संदर्भ में परखना ज़्यादा श्रेयस्कर होगा। प्रिचार्ड ने सूडान के अजांडे समुदाय के अध्ययन में यह पाया था कि उनके रहस्यवादी विचार लौकिक जीवन के लिए पूरक का काम करते हैं। प्रिचार्ड मानते हैं कि जादू-टोना जीवन के दुर्भाग्य की ओर इंगित करता है जबकि जादू ऐसे दुर्भाग्य से निजात दिलाने वाले उपाय की तरह काम करता है। उनकी राय में जादू का तंत्र

एक ऐसा उपकरण है जो व्यवहार के नियंत्रण और समाज में आदर्शों के संतुलन की रक्षा के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

वेबर ने अपने चिंतन में जादू, धर्म और अर्थव्यवस्था के अंतर्संबंधों की भी पड़ताल की है। धर्म की उत्पत्ति और विकास की तह में जाते हुए वेबर यह प्रतिपादित करते हैं कि धर्म का आद्य रूप मुख्यतः जादू का ही विस्तार था तथा उसका स्वरूप दमनकारी कर्मकाण्डों व दुनियावी इच्छाओं से संचालित था। वेबर के अनुसार यह बाद की घटना है कि धर्म में ऐसे नैतिक मूल्यों का संचार होना शुरू हुआ जिससे व्यक्ति और सामाजिक जीवन को एक स्थायी अर्थ मिलना सम्भव हुआ। इस संबंध में वेबर की एक अन्य स्थापना को देखना भी श्रेयस्कर होगा। वेबर मानते हैं कि संन्यास पर आधारित प्रोटेस्टेंटवाद में जादू के अतिक्रमण या दुनिया से मोहभंग की एक प्रबल प्रवृत्ति थी जो बाद में जाकर धर्म के व्यवहार तथा विश्वासों को विवेकपूर्ण और नैतिक बनाने में मददगार साबित हुई। वेबर की दृष्टि में जादू आर्थिक गतिविधियों को संगठित करने में बाधक था इसलिए जादू का प्रभाव घटने लगा और व्यवसायों को धर्म की सम्मति मिलने से आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

दुर्खाइम के अनुवीक्षण को बाद के समाजशास्त्रियों ने भी पुष्ट किया है। कीथ थॉमस ने अपने शोध में बताया है कि सत्रहवीं सदी के दौरान इंग्लैंड में होने वाला तकनीकी विकास और भौतिक परिस्थितियों में आया सुधार प्रोटेस्टेंटवाद की सफलता का परिणाम था। कीथ का मानना है कि उस समय लोगों का विज्ञान में विश्वास बढ़ रहा था जिसके कारण एक ऐसा बौद्धिक माहौल बनता जा रहा था जिसमें जादू का महत्त्व और उसकी विश्वसनीयता खत्म होने लगी थी।

एक अन्य मानवशास्त्री लेवी-स्ट्रॉस जादू को मिथक और अनुष्ठान के साथ रखकर विचार करते हैं। लेवी-स्ट्रॉस का मानना है कि जादू और विज्ञान यथार्थ को बूझने के दो अलग अलग तरीके हैं। जादू प्रत्यक्ष ज्ञान और पूर्व-अनुमान पर आधारित विचार है जो विश्व के अस्तित्व को पहले से तयशुदा मानकर चलता है। इसलिए उसे विज्ञान का आद्य रूप नहीं माना जा सकता, बल्कि वह ज्ञान का एक ऐसा रूप है जो अपने आप में पूर्ण है। दुर्खाइम और मौज़ भी जादू की ज्ञानात्मक भूमिका पर बल देते हुए यह मान रहे थे कि जादू वर्गीकरण की दिशा में पहला क़दम हो सकता है जबकि लेवी-स्ट्रॉस के अनुसार जादू केवल आदिम समाजों तक सीमित नहीं है बल्कि वह मनुष्य की चेतना का सार्वभौमिक और स्थायी अंग है और वह आधुनिक मनुष्य के सामूहिक अवचेतन में भी विद्यमान रहता है।

इतालवी इतिहासकार अर्नेस्टो डी मार्टिनो के नज़रिये में जादू आदिम मनुष्य की उस जद्दोजहद की ओर इंगित करता है जिसके ज़रिये वह प्राकृतिक परिस्थितियों का

अतिक्रमण करके अपनी मौजूदगी साबित करता है। मार्टिनो जादू को धर्म से सिर्फ़ इस अर्थ में अलग मानते हैं कि उसके द्वारा संचारित मूल्यों का दायरा संकरा होता है। मार्टिनो की दृष्टि में जादू का धर्म के साथ वैसा ही संबंध है जैसा गिनतारे का कैलकुलेटर के साथ। दोनों काम तो एक ही करते हैं लेकिन उनकी जटिलता का स्तर अलग-अलग होता है।

अंततः यह देखना दिलचस्प है कि विज्ञानवादी दृष्टिकोण के बरक्स जादू और धर्म का प्रतीकवाद एक आंतरिक तर्क का इस्तेमाल करते हुए अपनी भूमिका को उपयोगी साबित करने की कोशिश करता है। इस तरह जादू को समझने की पहली ज़रूरत यह है कि तर्क और इतिहास के वर्चस्वादी विकल्पों के सामने आत्मसमर्पण न किया जाए। जादू अस्तित्व को जिस कोण से देखता है उसे समझते हुए उसके पेचों से सावधान रहना भी ज़रूरी है। जादू का अध्ययन करने वाले कई समाजशास्त्री इस नज़रिये को मध्यमार्गी स्थिति या क्रिटिकल एथनोसेंट्रिज़्म कहते हैं।

देखें : अभिजन, अभिरुचि, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, क्लाउड लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफ़र्ड गीटज़, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, डेविड एमील दुर्खाइम, फुरसत, बचपन, बेगानगी, भीड़, मार्सेल मौज़, मैक्स वेबर, विचलन।

संदर्भ

1. जी. कनिंघम (1999), *रिलीजन ऐंड मैजिक : एप्रोचेज़ ऐंड थियरीज़*, एडिनबरा युनिवर्सिटी प्रेस, एडिनबरा.
2. आर. किकेफ़र (1989), *मैजिक इन द मिडल ऐज*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. बी. मैलिनोव्सकी (1982), *मैजिक, साइंस, ऐंड रिलीजन ऐंड अदर एसेज़*, सुवेनिर प्रेस, लंदन.
4. एस.जे. तांबैया (1985), *क्लचर, थॉट ऐंड सोशल एक्शन*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— नरेश गोस्वामी

जाक देरिदा

(Jacques Derrida)

विख्यात दार्शनिक जाक देरिदा (1930-2004) विखण्डनवाद के प्रतिपादक माने जाते हैं। साठ के दशक के आखिरी दौर और सत्तर के दशक एक मौलिक विचारक के रूप में देरिदा की ख्याति *ऑफ़ ग्रैमैटोलॉजी* (1967), *राइटिंग ऐंड डिफ़रेंस* (1967) और *मार्जिस ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी* (1972) जैसी रचनाओं के आधार पर बननी शुरू हुई। सत्तर

के दशक के आखिर में देरिदा ने विश्लेषणात्मक दर्शन के विद्वान जॉन सर्ल से जम कर बहस की। इस विवाद ने देरिदा को अलग तरह के परंतु विवादास्पद चिंतक के रूप में स्थापित कर दिया। देरिदा ने दार्शनिक जे.एल. ऑस्टिन की थियरी ऑफ़ स्पीच एक्ट पर लिखे गये अपने निबंध 'सिग्नेचर ईवेंट कांटेक्ट' में तर्क दिया था कि किसी पाठ के तात्पर्य का उद्भव न तो केवल रचयिता के इरादे पर निर्भर होता है और न ही उसके द्वारा इस्तेमाल किये गये लफ्जों पर। जब तक पाठ में पुनरुक्ति के आयामों पर ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक तात्पर्य की सम्भावनाओं का पूरा उद्घाटन नहीं हो सकता। एक शब्द अपने होने के लिए कई बार दोहराये जाने और दोहराये जाने की सम्भावनाओं से युक्त रहने का माँग करता है। तब कहीं जाकर वह अर्थगर्भित होता है। सर्ल ने इस धारणा के विरोध में लेख लिखा, जिसका देरिदा ने जवाब दिया। इस विवाद ने एनालिटिकल फिलॉसफी को कांटेन्टल फिलॉसफी के मुकाबले खड़ा कर दिया। इसके बाद विश्लेषणात्मक दर्शन के अनुयायियों ने देरिदा को कभी दार्शनिक नहीं माना।

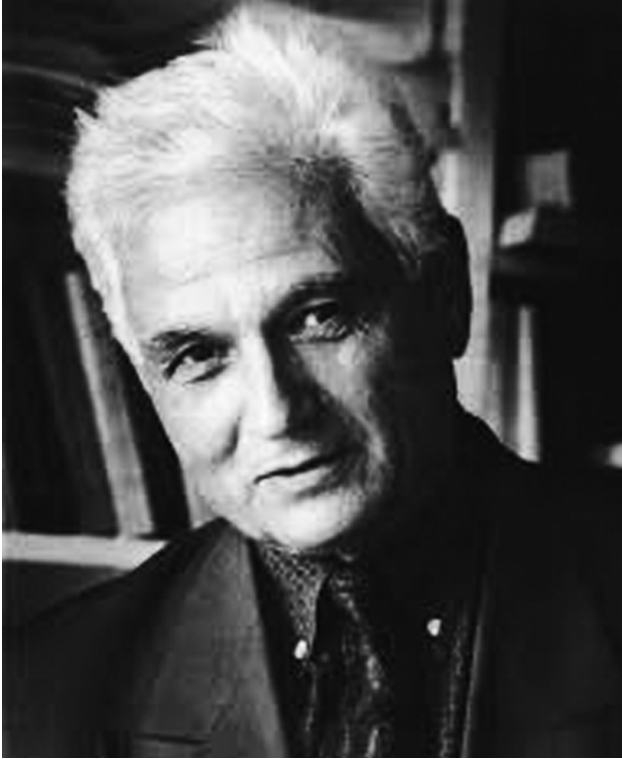
लेकिन इसके बाद भी देरिदा दर्शन के क्षेत्र में स्थापित मान्यताओं को चुनौती देते रहे। सत्तर और अस्सी के दशक में देरिदा के विमर्श ने दर्शन का दायरा तोड़ कर साहित्य में दिलचस्पी रखने वाले पाठकों को बड़े पैमाने पर अपनी ओर आकर्षित किया। अमेरिका और ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों के साहित्य-विभागों में वे लोकप्रिय होते चले गये। देरिदा ने संरचनावादी पद्धति की कथित वस्तुनिष्ठता पर हमला करते हुए 'फ़ोर्स ऐंड सिग्नीफ़िकेंस' जैसा निबंध लिखा जिसके कारण उनकी रचनाओं को अक्सर उत्तर-संरचनावाद की श्रेणी में रख कर देखा जाता है। 1960 के दशक के शुरुआती वर्षों में देरिदा ने हाइडेगर और लेविनास का गहराई से अध्ययन किया। 1964 में उन्होंने लेविनास के बारे में दो भागों में एक लंबा निबंध लिखा, जिसका शीर्षक था 'वायलेंस ऐंड मेटाफ़िजिक्स।' यह तय करना मुश्किल है कि देरिदा के शुरुआती निबंधों में कौन-सा निबंध सबसे महत्वपूर्ण है, लेकिन यह तय है कि 'वायलेंस ऐंड मेटाफ़िजिक्स' को इनके शुरुआती प्रभावशाली निबंधों में शामिल किया जाता है। 1967 में 37 साल की उम्र में देरिदा ने अभूतपूर्व क्षमता का प्रदर्शन करते हुए तीन रचनाओं का प्रकाशन किया। ये थीं *राइटिंग ऐंड डिफ़रेंस*, *स्पीच ऐंड फ़ेनोमेना* और *आफ़ ग्रैमैटोलॉजी*। इन तीनों में ही अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए देरिदा ने एक ख़ास तरह की पद्धति का इस्तेमाल किया और उसे डिफ़िक्शन (या विखण्डनवाद) का नाम दिया। यह अभिव्यक्ति फौरन प्रसिद्ध हो गयी और इसका इस्तेमाल देरिदा के विचारों को सार-रूप में व्यक्त करने के लिए किया जाने लगा। ख़ास तौर पर अंग्रेज़ी-भाषी दुनिया में

यह शब्द काफ़ी चर्चित रहा। इसे लेखन या चिंतन के एक ऐसे तरीके से जोड़ा जाता रहा है जो अतार्किक और अस्पष्ट है। यह सिर्फ़ साहित्यिक और दार्शनिक ग्रंथों की आलोचना का ही एक तरीका नहीं है, बल्कि इसके द्वारा राजनीतिक संस्थाओं की भी आलोचना की जाती है।

देरिदा के लिए विखण्डनवाद दरअसल किसी पाठ को पढ़ने की एक विशिष्ट पद्धति थी जिसके तहत वे उस पाठ में मौजूद परस्पर विपरीत द्विभाजनों के परे जा कर तात्पर्य-निरूपण करने का आग्रह करते थे। उनकी इस पद्धति ने समकालीन साहित्य-सिद्धांत को गहराई से प्रभावित किया। विखण्डनवाद के बाद साहित्य-सिद्धांत परस्पर विपरीत द्विभाजन की किसी भी श्रेणी को परम मानने से इनकार करता है। देरिदा पहले तो यह दिखाते हैं कि पश्चिमी विचार के तहत द्विभाजन में जिस शब्द का पहले उल्लेख होता है उसे पदानुक्रम के जरिये बाद में आने वाले शब्द पर हावी कर दिया जाता है। इसके बाद देरिदा यह स्पष्ट करते हैं कि इस पदानुक्रमता के बावजूद शब्दों या पदों का कोई भी युग्म अपने अर्थ संबंधी परम मूल्यों को क़ायम रखने के बजाय किस तरह बिना रुके हुए विभिन्न अर्थों से बने हुए एक ढलान पर फिसलता चला जाता है। इस तरह दोनों श्रेणियों को बार-बार अर्थ संबंधी भिन्नताओं से दो-चार होना पड़ता है।

देरिदा ने कई बार विखण्डनवाद शब्द के मनमाने तरीके से प्रयोग पर अफ़सोस भी जताया। लेकिन सच्चाई यह है कि दर्शन, साहित्यिक आलोचना, साहित्यिक सिद्धांत, कला और ख़ासतौर पर स्थापत्य सिद्धांत और राजनीति सिद्धांत में उनकी इस पद्धति का व्यापक प्रभाव पड़ा है। जीवन के आखिरी दो दशकों में तो उनकी स्थिति किसी फ़िल्म सितारे जैसी हो गयी थी। उन्हें सुनने के लिए सभागार में ज़बरदस्त भीड़ उमड़ती थी। फ़िल्म और टेलीविजन के कार्यक्रम उन्हें समर्पित किये जाते थे। इस दौर में उनके चिंतन से जुड़ी बहुत सी किताबें और लेख प्रकाशित हुए।

देरिदा का जन्म अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स के उपनगर एल-बेयर में एक यहूदी परिवार में हुआ था। उस समय अल्जीरिया एक फ़्रांसीसी उपनिवेश था। देरिदा ने अपनी किताब *मोनोलिंगुअलिज़म ऐंड द अदर* (1998) में बताया है कि जब वे हाई स्कूल में थे तो तत्कालीन फ़्रांसीसी हुकूमत ने अल्जीरिया की देशज भाषाओं पर पाबंदी लगा दी। इसके अलावा कई अन्य पाबंदियों के कारण भी देरिदा की हाई स्कूल की पढ़ाई में विघ्न पड़ा। द्वितीय विश्व-युद्ध के तुरंत बाद देरिदा ने दर्शन का अध्ययन करना शुरू कर दिया। 1949 में वे पेरिस चले गये जहाँ उन्होंने प्रतिष्ठित ईकोल नॉर्मले सुपीरियरे में दर्शन की पढ़ाई के लिए नामांकन परीक्षा की तैयारी की। पहली बार देरिदा को नाकामी मिली, लेकिन 1952 में की गयी दूसरी कोशिश में वे सफल हो गये। देरिदा



जाक देरिदा (1930-2004)

ने ईकोल नॉर्मले में उस समय प्रवेश लिया, जब यहाँ दार्शनिकों और चिंतकों की एक प्रभावशाली पीढ़ी तैयार हो रही थी। इस विद्यालय में उस समय जील डलज़, मिशेल फ़ूको, लुई अलथुसे, ज्यॉ-फ़्रांस्वाँ ल्योतर और रोलाँ बार्थ मौजूद थे। इसके अलावा मरली-पोंती, सार्त्र, सिमोन द बोउवार, लेवी-स्ट्राँस और लकाँ भी सक्रिय थे।

पचास के दशक के फ़्रांस में विचारों की दुनिया पर घटनाक्रियाशास्त्र का वर्चस्व था। देरिदा ने इस समय एडमण्ड हसर का गहराई से अध्ययन किया। उन्होंने हसर के तब तक प्रकाशित लेखन के अलावा अभिलेखागार से निकलवा कर कुछ अप्रकाशित सामग्री का भी अध्ययन किया। इसी के आधार पर देरिदा ने 1953-54 में अपनी मास्टर थीसिस के रूप में *द प्रॉब्लम ऑफ़ जेनेसिस इन हसर्स फिलॉसफ़ी* की रचना की। यह रचना 1990 में प्रकाशित हुई। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ उन्होंने ज्यॉ हिप्पोलाइट के साथ मिल कर हीगेल का भी अध्ययन किया। हिप्पोलाइट के साथ ही उन्हें *द आइडियलिटी ऑफ़ लिटरेरी ऑब्जेक्ट* विषय पर अपनी डॉक्टोरल थीसिस लिखनी थी। लेकिन वे कभी इसे पूरा नहीं कर पाये। उन्होंने हसर के *द ऑरिजिन ऑफ़ ज्यॉमिटी* का फ्रेंच में अनुवाद किया और उसके साथ 150 पृष्ठों की अपनी प्रभावशाली प्रस्तावना भी प्रकाशित की।

साठ का दशक देरिदा की पीढ़ी के दार्शनिकों के लिए बड़ी उपलब्धियों का दशक था। 1961 में फ़ूको की क्लासिक

कृति *मैडनेस ऐंड सिविलाइजेशन* प्रकाशित हुई। इसी समय देरिदा ने ऐसे सेमिनार में भागीदारी की जिसमें फ़ूको ने भी अपना वक्तव्य दिया। इसी के आधार पर देरिदा ने 1963 में 'कोजिटो ऐंड द हिस्ट्री ऑफ़ मैडनेस' लिखा, जिसमें उन्होंने फ़ूको के शुरुआती चिंतन की आलोचना की। खास तौर पर उन्होंने फ़ूको द्वारा देकार्त की व्याख्या को आड़े हाथों लिया। देरिदा की इस रचना ने देरिदा और फ़ूको के बीच एक तरह के अलगाव को जन्म दिया जो पूरी तरह से कभी खत्म नहीं हो पाया।

देरिदा के संदर्भ में यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है कि उनकी जटिल लेखन-शैली ने उनकी लोकप्रियता में खास योगदान नहीं किया, बल्कि इसके कारण बहुत से लोग उन्हें नापसंद करते थे। देरिदा खुद मानते हैं कि सत्तर के दशक से उन्होंने एक खास तरह की लेखन-शैली अपनायी शुरू की। इसका सबसे विख्यात या कुख्यात उदाहरण *ग्लास* (1974) है (जिसे अंग्रेजी में डेथ नेल और हिंदी में मौत का घंटा कहा जा सकता है)। इसमें देरिदा दो कॉलमों में लिखते नज़र आये। बायाँ कॉलम हीगेल के अध्ययन के प्रति समर्पित था और दायें फ्रेंच उपन्यासकार-नाटककार ज्यॉ जेने के अध्ययन को। इसका एक अन्य उदाहरण 1980 में प्रकाशित उनकी रचना *पोस्टकार्ड फ़्रॉम सोक्रेटीज़ टू फ़ॉयड ऐंड बियांड* है। इस किताब के शुरुआती दो सौ पृष्ठों में प्रेम-पत्र दर्ज हैं जो किसी व्यक्ति को सम्बोधित नहीं किये गये हैं।

समझा जाता है कि 1980 के दशक तक देरिदा काफ़ी हद तक रैखिक (लीनियर) और तार्किक (आर्ग्यूमेंटेटिव) शैली पर वापस लौट आये थे जो 1960 में उनके लेखन की मूल विशेषता थी। उनके आलोचक मानते हैं कि विखण्डनवाद या फिर पूरा उत्तर-आधुनिकतावादी स्कूल किसी तरह का राजनीतिक विकल्प नहीं देता। वह ज़्यादा-से-ज़्यादा आलोचना के रूप में होता है। लेकिन देरिदा ने अपने लेखन में एक निश्चित दिशा की ओर संकेत करने की कोशिश की। मसलन नब्बे के दशक में मार्क्सवाद पर अपने चिंतन में उन्होंने स्पष्ट किया कि विखण्डन के बाद सामने आने वाला मार्क्सवादी चिंतन ही भविष्य के लोकतंत्र की दिशा तय करेगा।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्यॉ-फ़्रांस्वा ल्योतर, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, द्वैतवाद, फ्रीड्रिख नीत्शे-1 और 2, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, सोरेन आबी कीर्केगार्ड, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

संदर्भ

1. रिचर्ड रोती (1978), 'फिलॉसफ़ी एज़ अ काइंड ऑफ़ राइडिंग : एन एसे ऑन देरिदा', *न्यू लिटरेरी हिस्ट्री*, अंक 10.
2. सी. नोरिस (1987), *देरिदा*, फ़ोंटाना, लंदन.
3. जॉन डी.केप्युटो (1999), *द प्रेयर्स ऐंड टीयर्स ऑफ़ ज़ाक देरिदा*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. फेंग चेह और सुजेन गुरलेट (सम्पा.), *देरिदा ऐंड द टाइम ऑफ़ द पॉलिटिकल*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नार्दन कैरोलिना प्रेस, न्यूयॉर्क.
5. वुड, डेविड (सम्पा.) (1994), *देरिदा : अ क्रिटिकल रीडर*, ब्लैकवेल, केम्ब्रिज.

— कमल नयन चौबे

ज़ाक मारी एमील लकाँ

(Jacques Marie Emile Lacan)

विख्यात फ़्रांसीसी मनोविश्लेषक और संरचनावादी चिंतक ज़ाक मारी एमील लकाँ (1901-1981) के विचारों और सूत्रीकरणों ने सारी दुनिया में लेखकों, साहित्यालोचकों, सिनेमा के सिद्धांतकारों, नारीवादियों, दार्शनिकों, मानवशास्त्रियों और इतिहासकारों के सोच-विचार पर गहरा असर डाला है। लकाँ को मिरर स्टेज थियरी के लिए विशेष रूप से जाना जाता है जिसके आधार पर उन्होंने शिशु अवस्था में पढ़ने वाली व्यक्ति की अस्मिता की नींव पर प्रकाश डाला है। उन्हें मनोविश्लेषण में बोली गयी भाषा के महत्त्व पर प्रकाश डालने वाले सूत्रीकरण के लिए भी जाना जाता है। खुद को फ़ॉयड का अनुयायी मानने वाले (उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा था कि अगर तुम खुद को लकाँनियन मानते हो तो तुम जानो, मैं तो फ़ॉयडियन हूँ) लकाँ ने मनोविश्लेषण के सिद्धांत और आचरण-संहिता का विकास करके उसके भीतर छिपी बौद्धिक क्रांति की सम्भावनाओं को साकार किया। अपने रवैये को 'रिटर्न टू फ़ॉयड' की संज्ञा देने वाले इस विद्वान ने आधुनिक भाषाशास्त्र, चित्रकला, दर्शन और मानवशास्त्र के साथ मनोविश्लेषण को जोड़ सकने वाली शब्दावली का आविष्कार किया। दूसरे, उन्होंने अपने अत्यंत सक्रिय जीवन के एक बड़े हिस्से में मौखिक सेमिनारों की विधि अपना कर फ़्रांस में मनोविश्लेषण को व्यापक मान्यता दिलायी। इसके लिए उन्होंने फ़्रांस के बौद्धिक प्रतिष्ठान और अंतर्राष्ट्रीय मनोविश्लेषक एसोसिएशन से भी लोहा लिया। चूँकि वे मनोविश्लेषण के लिए प्रचलित पचास मिनट के सत्र को स्वीकार करने के बजाय कहीं छोटी अवधि के सत्र की ज़रूरत पर जोर देते थे, इसलिए उन्हें अपना अलग स्कूल ही

स्थापित करना पड़ा।

ज़ाक लकाँ का जन्म पेरिस में 13 अप्रैल, 1901 को हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा कॉलेज स्तानिस्लास और फ़ैकल्टी द मेदीसीन द पारिआ में हुई। 1932 में उन्होंने अपनी चिकित्स्कीय डिग्री हासिल की जिसमें उन्होंने उन्माद की अवस्था में किये गये एक मशहूर अपराध के मामले पर प्रबंध लिखा। एक सिद्धांतशास्त्री और क्लिनिकल मनोविश्लेषक के तौर पर उनका कैरियर पचास साल तक चला। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद फ़्रांस में उनकी ख्याति एक बेहद विवादास्पद बुद्धिजीवी के तौर पर स्थापित होती चली गयी। उन्होंने अपने सतत प्रयासों से न केवल फ़ॉयड की प्रासंगिकता सिद्ध की, बल्कि मनोविश्लेषण के अनुशासन को समाज-विज्ञान और मानविकी के लिए उपयोगी साबित किया। वे लगातार दर्शन, कला और मानवशास्त्र के क्षेत्रों के साथ अन्योन्यक्रिया करके अपनी अंतर्दृष्टियों को समृद्ध करते रहते थे। इसलिए अक्सर उन्हें पढ़ने वालों को लगता था कि वे एक जगह नहीं ठहर रहे हैं। दूसरे, उनकी लेखन-शैली भी खास तरह से जटिल थी।

विचारों के क्षेत्र में लकाँ को जिस बात के लिए हमेशा याद किया जाएगा, वह है मानवीय कर्ता की देकार्तवादी एकीकृत समझ को विखण्डित करना। रेने देकार्त ने कहा था— *कोजिटो अरगो सम* यानी मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ। दरअसल, इसके ज़रिये देकार्त ने एक ऐसे मुकम्मल मानवीय कर्ता की संकल्पना की थी जो एक देह होने के साथ-साथ खुद को सचेत चिंतन के ज़रिये जान सकने की क्षमताओं से लैस भी था। आगे चल कर देकार्त का यह विचार पश्चिमी चिंतन का आधार-स्तम्भ बन गया। लेकिन फ़ॉयड ने मनोविश्लेषण के ज़रिये जैसे ही मनुष्य के अवचेतन का प्रस्ताव किया, तो कर्ता के एकीकृत अस्तित्व का सम्पूर्ण ज्ञान नामुमकिन लगने लगे। लकाँ ने फ़ॉयड की अंतर्दृष्टियों का इस्तेमाल करके दिखाया कि मनुष्य का मानसिक और सेक्शुअल जीवन जैविक प्रक्रियाओं और उसकी नैसर्गिकता द्वारा नियंत्रित-संचालित नहीं होता। वह तो उन भाषाई प्रक्रियाओं द्वारा संचालित होता है जिनके माध्यम से वह तात्पर्य-ग्रहण करता है। यानी मानवीय व्यवहार का स्रोत उसके जैविक यथार्थ में निहित न हो कर उसके सामाजिक यथार्थ में निहित है।

लकाँ की विख्यात मिरर स्टेज थियरी छह महीने से डेढ़ साल के शिशु पर अपना ध्यान केंद्रित करती है। इस उम्र में पहुँच कर शिशु खुद को आईने में देख कर पहचानना शुरू करते हैं, हालाँकि उनकी देह को संचालित करने वाली क्षमताएँ इस उम्र में पूरी तरह से विकसित नहीं होतीं। लकाँ ने मिरर स्टेज को द्वंद्वत्मक प्रक्रिया की तरह पेश किया है।



जाक मारी एमील लकाँ (1901-1981)

बच्चा जब दर्पण में खुद को देखता है तो उसे लगता है कि वह अपने बिम्ब के रूप में किसी अन्य को देख रहा है। छवि को अन्य समझते ही उसे अपने और दूसरे के बीच फर्क करना आता है। इस तरह उसके भीतर आत्म और अन्य की समझ बनती है।

एक तरफ बच्चा खुद को खण्डित, अ-समन्वित और अ-संगठित पाता है, दूसरी तरफ उसे अपना बिम्ब कहीं सम्पूर्ण लगता है। इस तरह उस शिशु को उसका आदर्श अहं हासिल होता है जिसे हासिल करने के लिए एक कर्ता के रूप में प्रयासरत रहता है। मिरर इमेज व्यक्ति के अहं को विकसित करने के लिए अनिवार्य है, पर साथ में वह एक विभाजन की नुमाइंदगी भी करती है जिसके तहत कर्ता अपनी अस्मिता के लिए हमेशा एक अन्य पर, एक दर्पण पर निर्भर हो जाता है।

मिरर स्टेज के विकास के साथ ही एक खास मकाम पर बच्चे के भीतर भाषा का अंकुर भी फूटता है। लकाँ कहते हैं कि बच्चे के क्रम एक सांकेतिक व्यवस्था में पड़ते हैं। यहाँ मातृ-मनोग्रंथि की थियरी का अपने ढंग से इस्तेमाल करते हुए लकाँ बताते हैं कि भाषा का औजार मिलने का मतलब है बच्चे का अपनी माँ की दुनिया से पृथक होना और समाज की दुनिया में प्रवेश करना। समाज की यह दुनिया पितृसत्तात्मक है, यानी वह पिता का संसार है। उस पिता का जो बच्चे की उस समय तक की जिंदगी में जैविक नहीं बल्कि सांकेतिक उपस्थिति ही रखता है। लकाँ कहते हैं माँ बच्चे के

लिए सम्पूर्ण आनंद का स्रोत है। इसे वे *जूसेंस* का नाम देते हैं, जबकि पिता सांकेतिक है जिसके सान्निध्य के कारण बच्चा *जूसेंस* से वंचित हो जाता है। यह वंचन ही उसके भीतर यौन कामना की सृष्टि करता है।

लकाँ का विचार है कि मातृ-मनोग्रंथि के तहत पैदा होने वाला बधियाकरण का भय वास्तविक न हो कर सांकेतिक होता है। यह भय उस दुश्चिंता का परिणाम है जो बच्चे द्वारा माँ की दुनिया छोड़ कर पिता की दुनिया में प्रवेश से जन्मी है। माँ की दुनिया यानी एक सम्पूर्ण जगत, और पिता की दुनिया यानी भाषा द्वारा संचालित-नियंत्रित सांकेतिक जगत जहाँ पहुँच कर कर्ता विभाजित महसूस करता है। लकाँ के मुताबिक मिरर इमेज और भाषा का सांकेतिक दायरा ही समाज में कर्ता के रूप में व्यक्ति की अस्मिता का आधार है। इस तरह लकाँ के विमर्श में मानवीय कर्ता सांकेतिक, वास्तविक और काल्पनिक के तीन आयामों से मिल कर परिभाषित होता है।

कुल मिला कर लकाँ का अस्मिता-विमर्श एक ऐसी अस्मिता की तरफ इशारा करता है जो कभी सम्पूर्ण नहीं हो सकती। यह अलग बात है कि अस्मिता आधारित राजनीतिक आंदोलन अक्सर एक सम्पूर्ण अस्मिता का आश्वासन थमाते हैं। बहुसंख्यकवादी और बहिर्वेशनवादी राजनीति हमेशा दावा करती है कि आप्रवासी, अल्पसंख्यक और समलैंगिक ने अन्य के रूप में उस *जूसेंस* को हड़प लिया है जो बहुसंख्यक कर्ता का जन्मसिद्ध अधिकार था।

फ्रॉयड पर स्त्री-द्वेषी होने का आरोप लगाने वाली नारीवादियों ने लकाँ के इस विमर्श पर भी स्त्री-द्वेषी होने का इलजाम लगाया। लेकिन कुछ अन्य विद्वानों ने इसका दूसरा अर्थ निकाला। लकाँ अपनी व्याख्या के दौरान जब कहते हैं कि स्त्री का वजूद नहीं है, तो वे सांकेतिक दायरे यानी पितृसत्तात्मक यथार्थ का हवाला दे रहे होते हैं। उनका मकसद स्त्री की नामौजूदगी का समर्थन करना नहीं है। वे तो यह बताते हैं कि सांकेतिक दायरे में स्त्री का सार या उसकी प्रकृति पुरुष की कामनाओं और सांस्कृतिक निर्धारकों से तय होती है। दूसरे, लकाँ पुरुष के काम-तत्त्व के आधार की शिनाख्त जैविक शिशन के बजाय फ़ालस यानी लिंग में करके पुरुष की सेक्शुअलिटी को सीमित कर देते हैं। लकाँ ने दिखाया है कि लिंग के जरिये यौनानंद लेने का आग्रह पुरुष के आनंद उठाने की क्षमता कम कर देता है। जबकि स्त्री के पास *जूसेंस* की बेशी सप्लाइ होती है जिसके कारण वह यौनानंद कहीं ज्यादा उठाने की क्षमता से लैस होती है। दरअसल, लकाँ ने फ्रॉयड से भी एक क्रम आगे जा कर स्त्री की मातृ-मनोग्रंथि के प्रश्न पर विचार किया और अपने बाद के जीवन में उन्होंने सेक्शुअल विभेद के रहस्यों को जानने में काफ़ी वक्त लगाया। उनके इस अनुसंधान का आधार यह

धारणा थी कि जेंडर अस्मिता से अलग स्त्रीत्व का एक मूल-तत्त्व होता है जिसके माध्यम से स्त्री सांकेतिक जगत में अपने ऊपर थोपे गये आग्रहों का प्रतिरोध कर पाती है।

लकाँ ने दुनिया के उन तमाम बड़े बुद्धिजीवियों के साथ संवाद स्थापित किया जो मनोविश्लेषण की दुनिया के नहीं थे। मसलन, उन्होंने सांकेतिक व्यवस्था की धारणा लेवी-स्ट्रॉस से ली जिन्होंने मिथकों, भाषा, कुटुम्ब और किसी संस्कृति में आर्थिक आदान-प्रदान के सांगठनिक सिद्धांत के लिए यह सूत्रीकरण किया था। लकाँ ने अन्य की अवधारणा को लेकर ज्याँ-पाल सार्त्र से बहस की और मर्ली-पोती से देह के सवाल पर विवाद किया। लकाँ ने हाइडेगर के बाद के दिनों के लेखन का फ्रेंच में अनुवाद किया और उनके भाषा, दर्शन और कविता संबंधी कई विचारों से प्रेरणा प्राप्त की। लकाँ एक तरफ तो मनोविश्लेषण को एक नया विज्ञान मानते थे, और दूसरी तरफ उनका यह भी खयाल था कि विज्ञान के प्रभुत्व से आक्रांत संस्कृति में मनोविश्लेषण के माध्यम से कई तरह रोगों का निदान किया जा सकता है। उनके पहले विचार ने अलथुसे को प्रभावित किया, और दूसरे ने फ्रूको और देरिदा जैसे फ्रांसीसी दार्शनिकों को। लकाँ ने उस जटिल क्रिस्म के भाषाई विश्लेषण की तरफ भी ध्यान आकर्षित किया जिसका इस्तेमाल करते हुए फ्रॉयड ने अपनी व्याख्याएँ की थीं। भाषा और मनोविश्लेषण के बीच इस सूत्र ने लकाँ को साहित्यिक सिद्धांतकारों के बीच भी खासी प्रतिष्ठा दिलायी।

देखें : एरिक फ्रॉम, कार्ल गुस्ताव युंग, मनोविज्ञान-1 और 2, मनोविश्लेषण, मनोविश्लेषण और नारीवाद, जिंगमण्ड फ्रॉयड-1 और 2.

संदर्भ

1. डी. इवांस (1997), *ऐन इंट्रोडक्टरी डिक्शनरी ऑफ लकाँनियन साइकोएनालिसिस*, रॉटलेज, लंदन.
2. ई. प्रोज (1990), *जाक लकाँ : अ फेमिनिस्ट इंट्रोडक्शन*, रॉटलेज, लंदन.
3. एस. जिजेक (1991), *लुकिंग ऑरी : ऐन इंट्रोडक्शन टू जाक लकाँ थ्रू पापुलर कल्चर*, एमआईटी प्रेस, बोस्टन.
4. जॉन पी. मुलर और विलियम जे. रिचर्डसन (1982), *लकाँ एंड लेंग्वेज : अ रीडर्स गाइड टू एक्रिट्स*, इंटरनैशनल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर

(Jean-francois Lyotard)

उत्तर-आधुनिकतावाद को एक प्रभावशाली वैचारिक आंदोलन में बदल देने वाले फ्रांसीसी दार्शनिक और उत्तर-संरचनावादी चिंतक ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर (1925-1998) किसी भी तरह के महा-आख्यान, महा-विचार और महा-सिद्धांत को गहराई से प्रश्नांकित करने के लिए जाने जाते हैं। उन्हें यकीन था कि इनसान का सामाजिक जीवन इस क्रूर विविध और सृजनशील है कि उसे किसी एक विचार या सिद्धांत में नहीं समेटा जा सकता। ल्योतर के मुताबिक ऐसे बहुलतासम्पन्न सामाजिक जीवन पर अगर कोई सोशल इंजानियरिंग आरोपित की जाएगी, या खास तरह की विकास-नीति या अर्थनीति अपना कर उस पर कोई परिवर्तन थोपा जाएगा, तो उसका नतीजा लाजमी तौर पर सर्वसत्तावाद में निकलेगा। एक विचार के तौर पर उत्तर-आधुनिकतावाद की चर्चा ल्योतर से पहले भी होती रहती थी। न केवल यह पद कला और साहित्य की दुनिया में प्रचलित था, बल्कि इसके जरिये किये जाने वाले आक्षेपों से आधुनिकता को बचाने के लिए डेनियल बैल ने 1973 में इसकी कड़ी आलोचना भी की थी। लेकिन 1979 में ल्योतर की रचना *पोस्टमॉडर्न कंडीशन: अ रिपोर्ट ऑन नॉलेज* का फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशन होते ही 'महा-आख्यानो के प्रति अविश्वास' एक प्रमुख वैचारिक फ़िकरा बन गया। 1984 में यह पुस्तक अंग्रेज़ी में अनूदित हुई जिसके बाद से एक सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धांत के रूप में उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकतावाद के पैर ग्लोबल पैमाने पर जम गये।

ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर का जन्म वरसाई, फ्रांस के एक साधारण परिवार में हुआ था। स्नातक की डिग्री हासिल करने के बाद उन्होंने अल्जीरिया से शुरू करके कई स्कूलों में दर्शन का अध्यापन किया। रैडिकल राजनीति में दीक्षित होने के बाद उन्होंने पेरिस के इर्द-गिर्द कई शिक्षा-संस्थाओं में दर्शन के प्रवक्ता और फिर प्रोफेसर की भूमिका निभायी। *लिबिडनल इकॉनॉमी* लिखने के बाद विट्गेंस्टाइन और उत्तर-संरचनावादी चिंतक देरिदा से प्रभावित हो कर उनकी दिलचस्पी भाषा के विश्लेषण में हो गयी। 1984 में उनकी रचना *द डिफरेंड* प्रकाशित हुई। 1993 में उनके निबंधों का संकलन *द ड्राइवज़ ऐंड देयर एपरेटसिस* का प्रकाशन हुआ।

ल्योतर ने अपनी यह युग-प्रवर्तक कृति क्युबेक विश्वविद्यालय की एक परियोजना के तहत रची थी। विश्वविद्यालय विकसित देशों में ज्ञान के तत्कालीन स्तर की जाँच-पड़ताल करना चाहता था ताकि उसके आधार पर



ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर (1925-1998)

भविष्य की विश्वविद्यालयीय नीतियों का सूत्रीकरण किया जा सके। *पोस्टमॉडर्न कंडीशन* में ल्योतर ने दावा किया कि युरोपीय ज्ञानोदय से निकले प्रगति के विचार और बुद्धिवाद के नेतृत्व में बना ज्ञान का ढाँचा, उसकी प्रकृति और स्थिति में परिवर्तन आ चुका है। नये हालात को उन्होंने उत्तर-आधुनिकता का नाम दिया, जिसके तहत सूचना प्रौद्योगिकी, दक्षता और परिणामवाद का बोलबाला हो चुका है। अपने विकास की प्रक्रिया में विज्ञान के विभिन्न अंगों में पहले की तरह परस्पर अनुरूपता नहीं रह गयी है और अब वैज्ञानिक एक-दूसरे से मिलती-जुलती भाषा भी नहीं बोलते। हालाँकि विज्ञान का दावा अभी भी वस्तुनिष्ठ व्याख्या प्रदान करने का है, पर उसके वजूद को तरह-तरह के महा-आख्यानों और महा-गाथाओं के दम पर जायज़ ठहराया जा रहा है। आधुनिकता ने सुख, समृद्धि और स्वतंत्रता का आश्वासन थमाया था, वह पूरा नहीं हो सका है। परिणामस्वरूप सार्वभौम आस्थाओं, विचारधाराओं, धर्मों, पूँजीवाद के लाभों और मनोविश्लेषण की विधियों से लोगों का मोह भंग हो गया है।

ल्योतर ने स्पष्ट रूप से कहा कि प्रौद्योगिकी ज्ञान को बदल रही है और ज्ञान के जो रूप प्रौद्योगिकी की भाषा में अनूदित होने के लिए तैयार नहीं है वह किसी न किसी रूप में हाशियाग्रस्त होने के लिए अभिशप्त हैं। इसी के मुताबिक भविष्य के अनुसंधान की दिशा भी उसके परिणामों के कम्प्यूटर की भाषा में अनूदित होने की सम्भावनाओं पर निर्भर होगी। लेकिन अगर ऐसा हुआ तो क्या उत्तर-आधुनिक युग

में कम्प्यूटरों का वर्चस्व कायम नहीं हो जाएगा और क्या सोचने वाले कर्ता की जगह आधुनिक प्रौद्योगिकी की यांत्रिक प्रवृत्तियाँ नहीं ले लेंगी? इस प्रश्न के उत्तर में ल्योतर की थीसिस कहती है कि ज्ञान प्रौद्योगिकी के हाथों बदल कर विनिमय-मूल्य और बाह्य शक्तियों के खेल के मातहत हो जाएगा। इस तरह ल्योतर उत्तर-आधुनिक स्थिति की परिभाषा प्रौद्योगिकीय और वैज्ञानिक ज्ञान-रूपों के अंतर्भूत परिणामों के साथ-साथ ज्ञान-रूपों के वैकल्पिक आख्यानों के संदर्भ में भी करते हैं।

ल्योतर पोस्टमॉडर्न कंडीशन के तहत किसी भी विचार का सत्यापन करने के लिए पागान रवैये की वकालत करते हैं। चूँकि देश-काल की सीमाओं से परे सार्वभौम पैमाने पर लागू होने वाले सिद्धांतों के आधार पर मानक नहीं बनाये जा सकते, इसलिए ईमानदार तरीका यही होगा कि हर घटना, हर विचार या हर मसले की जाँच उसकी विशिष्ट शर्तों के आधार पर की जाए। आकलन और मूल्यांकन करने के इस उसूल की पुष्टि अरस्तू के हवाले से करते हुए ल्योतर ने कहा कि पागान समाज यही तरीका अपनाता था। ऐसे समाजों का सार्वजनिक जीवन मार्क्सवाद, कम्युनिज़म, समाजवाद, फ्रांसीवाद या पूँजीवाद जैसे महा-आख्यानों और महा-सिद्धांतों की बौद्धिक गुलामी में नहीं फँस सकता था। पागान समाज राजनीतिक कार्रवाई की हर माँग और दावेदारी की जाँच पूर्व-निर्धारित मानकों के आधार पर न करके अलग-अलग तरीकों से करता था। इसका नतीजा अधिक न्यायपूर्ण सामाजिक संरचनाओं में निकलता। सोवियत शैली की सामाजिक-आर्थिक इंजीनियरिंग की जगह ल्योतर ने 'लघु आख्यानों' की सिफारिश की। इसके उदाहरण के तौर पर उन्होंने 1968 के मज़दूर-छात्र गठजोड़ को आदर्श करार दिया जो पेरिस के विद्रोह के केंद्र में था। किसी दीर्घकालीन डिज़ाइन के विपरीत यह गठजोड़ एक सीमित और अल्पकालीन मक़सद हासिल करने के लिए बनाया गया था।

पोस्टमॉडर्न कंडीशन के प्रकाशन से पहले ल्योतर को उनकी रचना *लिबिडिनल इकॉनॉमी* (1974) के लिए जाना जाता था जिसमें उन्होंने अवाँगार्ड कला की फ़ितनागिरी का विश्लेषण किया था। लिबिडिनल इकॉनॉमी जैसे पद का इस्तेमाल उन्होंने मनुष्य के भीतर सक्रिय उन विविध प्रेरणाओं और चालक-शक्तियों के लिए किया जो तर्क और बुद्धि के मुताबिक चलने में रुकावट डालती हैं। फ्राँयड की भाँति ल्योतर इन प्रवृत्तियों को केवल अवचेतन का अंग बता कर नहीं रह जाते, बल्कि उनके अराजक और सामाजिक व्यवस्था को बेतरतीब बना देने वाले प्रभाव को सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं। इस जगह वे मार्क्सवाद की आलोचना करते हैं कि उसके सिद्धांतों में इन चालक शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। मार्क्सवाद इन शक्तियों और प्रेरणाओं को अनायास

और विवेकहीन कह कर खारिज कर देता है। ल्योतर के मुताबिक यह मार्क्सवाद की वैचारिक तानाशाही है, क्योंकि इन प्रवृत्तियों को हमेशा के लिए नहीं दबाया जा सकता; अंत में वे किसी न किसी रूप में खुद को व्यक्त करती ही हैं। ल्योतर ने उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रांति को भी मज़दूर वर्ग की लिबिडनल ऊर्जा के ज़बरदस्त विस्फोट की संज्ञा दी है। मार्क्सवादी इस क्रांति में महज़ मज़दूरों का शोषण देखते हैं, जबकि ल्योतर के मुताबिक स्वयं मज़दूर उस प्रक्रिया को उत्सुकता, विविधता और परिवर्तन के नज़रिये से देख रहे थे।

ल्योतर की यह रचना उस ज़माने में प्रकाशित हुई थी जब 1968 की घटनाओं के बाद कई फ्रांसीसी बुद्धिजीवी मार्क्सवाद से मोहभंग के दौर से गुज़र रहे थे। *लिबिडनल इकॉनॉमी* को मार्क्सवाद की दार्शनिक और सांस्कृतिक परियोजना के ऊपर सीधे हमले के रूप में देखा जाता है। अधिक सामान्य अर्थों में इसे दर्शन की बुद्धिवादी विरासत के प्रति उग्र नकार के रूप में भी ग्रहण किया जाता है। इसीलिए इस रचना को उत्तर-दार्शनिक और कभी-कभी उसके विरोधियों द्वारा दर्शन-विरोधी तक करार दिया जाता है।

ल्योतर ने अपने बौद्धिक जीवन की शुरुआत में फ्राँयड और मार्क्स का संश्लेषण करने की कोशिशें की थीं। जल्दी ही उनका मनोविश्लेषण और मार्क्सवाद से मोह भंग हो गया। लेकिन इस दौरान निर्मित हुए बौद्धिक सरोकार किसी न किसी रूप में उनके साथ बने रहे। उनके ज़्यादातर राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न प्रसंगों के इर्द-गिर्द रचे गये हैं। अल्जीरिया की आज़ादी के लिए हुए युद्ध ने उन्हें राजनीतिक चिंतन की प्रेरणा दी। उस समय वे अल्जीरिया में दर्शनशास्त्र का अध्यापन करते हुए एक रैडिकल ट्राट्स्कीवादी गुट के साथ *सोशलिज़्म ऑर बारबरिज़्म* नाम पत्रिका के साथ जुड़े हुए थे।

1968 में पेरिस की सड़कों पर हुए छात्र-मज़दूर विद्रोह के समय वे खुद को मार्क्सवादी मानते थे, पर आंदोलनकारियों की पहलकदमियों का लाभ उठाने में फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी की विफलता से नाराज़ हो कर उन्होंने मार्क्सवादियों की निंदा की। उन्हें लगा कि उनकी आँखों के सामने ही मार्क्सवाद का महा-वृत्तांत धराशायी हो रहा है। इसी मक़ाम से उन्हें राजनीति में उत्तर-आधुनिकता का सूर्योदय होता हुआ दिखा।

ल्योतर के विचार जितने प्रभावशाली हैं, उन्हें प्रश्नांकित भी उसी शिद्दत से किया गया है। उनके आलोचकों का कहना है कि आधुनिकता की ताकत को खारिज करने भर से उसका सामाजिक कार्यक्रम खारिज नहीं हो जाता। वे यह भी कहते हैं कि उत्तर-आधुनिकता किसी भी तरह से आधुनिकता का विकल्प नहीं बन पायी है। ल्योतर की उत्तर-आधुनिकता बिना किसी वैकल्पिक कार्यक्रम की तजवीज़

किये एक क्रिस्म की आधुनिकता की खामियों को खंगालती रहती है। इसके साथ ही उसे एक दूसरे तरह की आधुनिकता के आविष्कार की कोशिश करते हुए देखा जा सकता है। इस लिहाज़ से उत्तर-आधुनिकता अपने-आप में आधुनिकता के अंत के बजाय उसकी शुरुआत बनने के प्रयासों की तरह भी परिभाषित हो सकती है।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्याँ-पॉल सार्त्र, जाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, द्वैतवाद, फ्रीड्रिख विल्हेल्म नीत्शे-1 और 2, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, सोरेन कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

संदर्भ

1. जी. बेनिंग्टन (1988), *ल्योतर : राइटिंग द ईवेंट*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर (1984), *द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : अ रिपोर्ट ऑन नॉलेज*, मैनेचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनेचेस्टर.
3. बी. रीडिंग और के.पी. जीमैन (सम्पा.) (1993), *पॉलिटिकल राइटिंग्स*, यूसीएल प्रेस, लंदन.
4. जे. विलियम्स (1998), *ल्योतर : टुवर्ड्स अ पोस्टमॉडर्न फिलॉसफी*, पॉलिटि प्रेस, केम्ब्रिज.

—अभय कुमार दुबे

ज्याँ-जाक रूसो

(Jean-Jacques Rousseau)

फ्रांसीसी नवजागरण के प्रमुख विचारक, उपन्यासकार, संगीतशास्त्री, गीत-नाट्यकार और शिक्षाशास्त्री ज्याँ-जाक रूसो (1712-1778) का कृतित्व आधुनिक राजनीतिक विचार के लिए केंद्रीय महत्त्व रखता है। यह रूसो के विमर्शों का ही प्रताप था कि अठारहवीं सदी में लोकतंत्र का सिद्धांत पहली बार आम जनता और भीड़तंत्र के भय से मुक्त हुआ। रूसो ने अपने प्रभावशाली लेखन के ज़रिये अपने युग के प्रचलित बौद्धिक रवैये के परे जाते हुए अभिजनों द्वारा अर्जित राजनीतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों के ऊपर साधारण व्यक्ति के गुणों, निष्ठा, देशभक्ति और सामुदायिक भावना को अहमियत दी। विषमता के खिलाफ़ समता का

विमर्श स्थापित करने वाले रूसो अपने युग के फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय थे। अपनी मृत्यु के सोलह वर्ष बाद 1789 की महान फ्रांसीसी क्रांति के मुख्य प्रणेता के तौर पर उन्हें फ्रांस के राष्ट्रीय नायक का दर्जा प्रदान किया गया।

रूसो प्रत्यक्ष लोकतंत्र के समर्थक थे, पर एथेंस के बौद्धिक रूप से चमकदार लोकतंत्र के मुकाबले स्पार्टा के दृढ़, जुझारू और बौद्धिकता को खास महत्त्व न देने वाला लोकतंत्र उन्हें अधिक प्रिय था। उनकी लेखनी में अनूठी शक्ति थी। विचार मूलतः उनका अपना हो या अपने साथी विद्वानों से बातचीत के जरिये ग्रहण किया गया हो, वे हमेशा उसे मौलिक कोण से पेश करने में कामयाब रहते। रूसो के आलोचक भी मानते थे कि नवजागरण के दार्शनिकों के कई विचार रूसो के जरिये आम लोगों तक पहुँचने पर अधिक प्रभावी साबित हुए। समझा जाता है कि रूसो ने जिन विचारों के आधार पर अपना पूरा विमर्श खड़ा किया, उनके जनक मुख्यतः दिदेरो और बुफ़ों थे, पर आज दुनिया उन्हें रूसो की कृति मानती है।

1750 में प्रकाशित *अ डिस्कोर्स ऑन द आर्ट्स ऐंड साइंसेज़* का लेखन रूसो ने एक निबंध प्रतियोगिता जीतने के लिए किया था। उन्हें न केवल अपने फ़ौरी मक़सद में सफलता मिली, बल्कि इसके जरिये उन्होंने अपने ज़माने के उन प्रचलित विचारों को चुनौती भी दे डाली जिन्हें उन्हीं के मित्रों और सहयोगी दार्शनिकों से विकसित किया था। उस समय तक नवजागरण के चिंतक प्रगति के विचार का प्रतिपादन कर चुके थे। पर रूसो ने उन्हें यह कह कर भौंचक्का कर दिया कि जिन उपलब्धियों को सभ्यता का विकास समझा जा रहा है, वे बुद्धि और मानवीय सुख का प्रतिनिधित्व करने के बजाय इनसानों को भ्रष्ट, बेइमान और दुखी बना रही हैं। रूसो ने हर उस उपलब्धि को कमतर ठहराया जिसे नवजागरण के दार्शनिक कीमती मानते थे, फिर चाहे वह तर्कबुद्धि हो, विज्ञान हो, दर्शन, प्रगति या बौद्धिक परिष्कार हो। रूसो ने ईसाइयत द्वारा स्थापित 'मूल-पाप' (ओरिजिनल सिन) के सिद्धांत का खण्डन करते हुए मनुष्य की बुनियादी अच्छाई का दावा किया। उनका कहना था कि मनुष्यों को भ्रष्ट करने की ज़िम्मेदारी तो समाज की है।

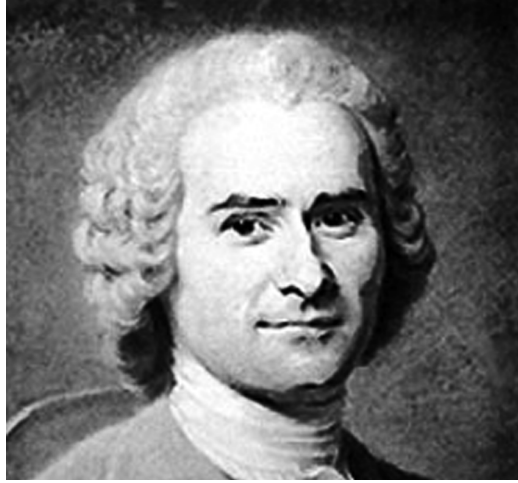
अपने अन्य विमर्शों में भी रूसो ने इसी आधारभूत तर्क को और समृद्ध किया। 1755 में प्रकाशित *अ डिस्कोर्स ऑन द ओरिजिन ऑफ़ इनईक्वलिटी* में उन्होंने मनुष्य की प्रकृत अवस्था की अपनी व्याख्या करते हुए दावा किया कि अपने प्राकृतिक रूप में मनुष्य लाज़मी तौर पर बुद्धिसंगत और सामाजिक न हो कर अलग-अलग सक्रिय रहने वाला प्राणी था। उसमें कभी-कभी एक-दूसरे से अन्योन्यक्रिया करने के साथ-साथ स्व-हित को समझने और हमदर्दी महसूस करने

की क्षमताएँ भी थीं। आबादी बढ़ने के दबाव में मनुष्य की यह प्राकृतिक स्वतंत्रता नष्ट हो गयी। निजी सम्पत्ति की शुरुआत के साथ ही शोषण, विषमता और सभी तरह की बुराइयों का आगमन हुआ। सामाजिक विषमता से अन्याय और नैतिक भ्रष्टाचार निकला। सतही तौर से देखने से लगता है कि रूसो के विमर्शों की निगाह में मानवता का भविष्य अंतिम रूप से अंधकारमय था। पर, रूसो यह भी साफ़ करते हैं कि मनुष्य में सुधार करते हुए सम्पूर्णता प्राप्त करने की क्षमता भी है।

इस निष्कर्ष पर पहुँचते ही रूसो दो तरह के प्रश्नों का सामना करते हैं : क्या व्यक्तिगत धरातल पर ऐसा जीवन जीना सम्भव है जिसे समाज ने भ्रष्ट न किया हो, और क्या भ्रष्ट न किया जा सकने वाला समाज बनाया जा सकता है? 1762 में दो पुस्तकों के जरिये रूसो ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया। अपनी उपन्यासनुमा रचना *एमाइल* के पृष्ठों पर रूसो एमाइल नामक काल्पनिक बालक की कहानी कहते हैं कि उसे किस प्रकार समाज के दूषित प्रभाव से दूर प्राकृतिक रूप से शिक्षित किया गया। उन्होंने जिस शिक्षा संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसने बचपन, बच्चों के लालन-पालन और मातृत्व संबंधी युरोपियन समझ को पूरी तरह से बदल डाला। रूसो ने माताओं से आग्रह किया कि वे दाई के हवाले न करके अपने शिशु की खुद देखभाल करें और उसे अपना दूध पिलाएँ। इसी प्रक्रिया में रूसो ने सार्वजनिक दायरे के बरक्स एक निजी दायरे की कल्पना की जिसमें छोटे आधुनिक बूज्वा परिवार की आहतें थीं, लेकिन जिसके रख-रखाव की ज़िम्मेदारी स्त्री की अधीनता पर डाल दी गयी थी।

रूसो की दूसरी रचना *सोशल कांटेक्ट* भ्रष्टाचार से मुक्त समाज बनाने की तजवीज़ करती है। इसकी पहली पंक्ति जगत विख्यात हो चुकी है : 'मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है, पर हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।' दरअसल, *सोशल कांटेक्ट* आधुनिक राजनीतिक दर्शन को एकदम नया रूप दे देती है। उनका सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के सामाजिक समझौते से अलग है। रूसो से पहले के दार्शनिकों का यक़ीन था कि मनुष्य अपनी बुद्धिगत क्षमताओं के कारण दूसरे प्राणियों से भिन्न है, जबकि रूसो मानते हैं कि इनसान नैतिक चुनाव की क्षमता के कारण अलग है। अगर उसे यह चुनाव करने की आज़ादी न दी जाए तो वह दास से अधिक कुछ नहीं रह जाएगा। चूँकि समाज तरह-तरह की अ-स्वतंत्रताओं से भरा हुआ है और मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता के शुरुआती संसार में नहीं लौट सकता, इसलिए रूसो तजवीज़ करते हैं कि उसे अपनी उस आज़ादी का विनिमय नागरिक स्वतंत्रता से करना चाहिए। इसके लिए मनुष्य को एक-दूसरे से मिल कर संगठन बनाना होगा, सामाजिक अस्तित्व रचना होगा जिसके तहत सभी लोग

अपने अधिकार त्याग देंगे और बदले में नागरिक के रूप में अधिकार प्राप्त करेंगे, एक सम्प्रभु के सदस्य के रूप में रहेंगे। अर्थात् एक संविधान बनाना पड़ेगा जिसके तहत हर व्यक्ति अधीन भी होगा और सहभागी नागरिक भी। केवल इसी तरह स्वतंत्रता की गारंटी की जा सकेगी। यह लोकतंत्र की अवधारणा थी, पर रूसो जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलाये जाने वाले लोकतंत्र या विधि-निर्माण से सहमत नहीं थे। प्राचीन यूनान के प्रत्यक्ष लोकतंत्र की तरह रूसो चाहते थे कि सभी नागरिक एक सार्वजनिक स्थान पर जमा हो कर विधि निर्माण करें। अल्पमत को बहुमत द्वारा लिए गये निर्णय के अधीन होने से बचाने के लिए रूसो ने सर्वसम्मति का पक्ष लिया जिसे कारगर बनाने के लिए उन्होंने अपने सबसे विख्यात सिद्धांत 'जन-इच्छा' (जनरल विल) का सूत्रीकरण किया। 'जन-इच्छा' के आधार पर रचे गये कानून के पालन का मतलब था स्वयं अपनी इच्छा का पालन करना।



ज्याँ-जाक रूसो (1712-1778)

रूसो के ये प्रस्ताव असाधारण और विवादास्पद थे। उनकी इस असाधारणता का ताल्लुक उनके असाधारण जीवन से भी था। वे स्विट्जरलैण्ड के एक मध्यवर्ति परिवार में पैदा हुए। जन्म देते हुए माँ की मृत्यु हो गयी। उनके पिता एक घड़ीसाज़ होने के बावजूद पुस्तकों और अध्ययन के प्रेमी थे। पर वे अपने बेटे को कोई खास औपचारिक शिक्षा नहीं दिला पाये। पिता के दूसरे विवाह के बाद रूसो किशोरवय में ही अकेले पड़ गये। इसके बाद उनके भटकने का सिलसिला शुरू हुआ। उन्हें फ्रांस और इटली के कुछ इलाकों में छोटी-मोटी नौकरियाँ करनी पड़ीं। स्नेह के अभाव और संकटग्रस्त जीवन ने उन्हें अति-संवेदनशील बना दिया। इसी अवधि में भाग्य ने उन्हें एक तलाक़शुदा 29 वर्षीय महिला द वारेन से मिलवाया जिन्हें कमसिन रूसो से प्रेम हो गया। द वारेन के प्रभाव में आकर रूसो ने कैल्विनवादी ईसाई आस्थाओं को छोड़ कर कैथलिक आस्थाओं का दामन थामा। द वारेन ने ही रूसो को संगीत की औपचारिक शिक्षा दिलवायी। उन्हीं के सान्निध्य में रूसो ने दर्शन और गणित का अध्ययन किया। 1742 में वे इटली से फ्रांस पहुँचे और संगीत के स्वरांकन की नयी प्रणाली ईजाद करने का दावा किया। टुकराये जाने पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि पेरिस इतालवी संगीत के प्रति दुराग्रहग्रस्त है। पेरिस में ही उनकी दोस्ती फ्रांसीसी दार्शनिक दिदेरो से हुई। दिदेरो और द'अलेम्बर्ट द्वारा तैयार किये महाग्रंथ *इनसाइक्लोपीडिया* में संगीत संबंधी रचनाओं के

अलावा रूसो ने 1755 में राजनीतिक अर्थशास्त्र पर एक विख्यात लेख का योगदान भी किया।

रूसो को आर्थिक दिक्कत रहती थी, पर इस दबाव में आ कर किसी पेशकश को मान लेना उनके स्वभाव में नहीं था। उन्होंने 1752 में लुई पंद्रहवें द्वारा दी गयी आजीवन पेंशन टुकरा दी। लुई रूसो द्वारा रचित एक ऑपेरा देख कर अत्यंत प्रभावित हुए थे। रूसो ने ट्यूशन पढ़ाने के कई फ़ायदेमंद प्रस्ताव भी स्वीकार नहीं किये। *सोशल कांटेक्ट* लिखने से पहले 1961 में उन्होंने *ज्यूली ऑर द न्यू हेलोइस* शीर्षक से आठ सौ पृष्ठ का एक बृहद उपन्यास लिखा। प्रेम संबंधों पर आधारित यह एक भावनाप्रवण कहानी थी, जिसने युरोप के गल्प-साहित्य में स्वच्छंतावाद के परवर्ती विकास के लिए आधार का काम किया।

स्थापित विचारों से खुल कर असहमति व्यक्त करने के कारण रूसो को चर्च और प्रशासनिक अधिकारियों का कोप झेलना पड़ा। जिनेवा और कई जगहों पर उनकी किताबों पर पाबंदी लगायी गयी। गिरफ्तारी से बचने के लिए वे खुफ़िया तौर पर फ्रांस से निकल गये और डेविड ह्यूम की मदद से इंग्लैण्ड में शरण ली। अलग-थलग पड़ जाने के कारण रूसो की मानसिक हालत अस्थिर होती चली गयी। 1767 में वे एक दूसरा नाम रख कर फ्रांस लौटे, जहाँ उन्हें पुस्तकें प्रकाशित करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। इसी दौर में उन्होंने अपनी आत्मकथा *कन्फ़ेशंस* लिखी जिससे युरोप में आत्मकथा साहित्य की परम्परा शुरू हुई। *कन्फ़ेशंस* का आंशिक प्रकाशन उनकी मृत्यु के चार साल बाद 1782 में ही हो सका।

रूसो के सिद्धांतों में 'जन-इच्छा' का सिद्धांत सर्वाधिक विवादास्पद है, क्योंकि वे स्वयं भी कभी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये कि नागरिकों की आम सभा में व्यक्त की जाने वाली इच्छाओं में से 'जनरल-विल' कैसे निकलेगी। अंत में हार कर वे यह कहते हुए नज़र आये कि अगर 'जन-इच्छा' नहीं उपलब्ध हो पा रही है तो बहुमत की इच्छा को ही उसका पर्याय मान लिया जाना चाहिए। चूँकि रूसो ने ऐसे नागरिकों के सहज समुदाय की कल्पना की थी जो ऊँच-नीच के संबंधों से परे समता और एकता के वाहक होंगे, इसलिए उन्हें विश्वास था कि उनके बीच में 'जन-इच्छा' उपलब्ध करना आसान होगा। ईसाइयत को इस तरह के लोकतंत्र के

लिए पूरी तरह उपयुक्त न मानने के कारण रूसो ने एक नागरिक धर्म की संकल्पना भी की।

विक्षिप्तता के प्रभाव के कारण मशहूरी की बुलंदियों पर होने के बावजूद रूसो के जीवन के अंतिम दिन सुखी नहीं गुजरे। 66 वर्ष की उम्र में मस्तिष्काघात से उनकी मृत्यु हो गयी।

रूसो के विचारों की आलोचना उनके जीवन में ही होनी शुरू हो गयी थी। यह सिलसिला बाद में भी जारी रहा। एडमण्ड बर्क ने कहा कि सांस्कृतिक-बौद्धिक उपलब्धियों को खारिज करने का रूसो का निर्णय उनकी अपनी बौद्धिक हेकड़ी और नैतिक विफलता का द्योतक था। शुरुआती नारीवादी मैरी वोल्स्टनक्रॉफ्ट ने रूसो की आलोचना की कि उन्होंने स्त्री को मातृत्व और परिवार के दायरे में जकड़ देने की एक वकालत की है। रूसो के राजनीतिक सिद्धांतों की व्यावहारिकता को भी प्रश्नांकित किया गया कि यूनान के नगर-राज्यों के लिए जो प्रत्यक्ष लोकतंत्र व्यावहारिक था, वह फ्रांस जैसे विशाल आधुनिक राज्य के लिए कैसे कारगर होगा?

कार्ल पॉपर ने रूसो के विचारों को राष्ट्रवाद के नाम पर किये जाने वाले अनाचारों से जोड़ा है। जे.एल. टालमन ने 'जन-इच्छा' की अस्पष्टता के हवाले से रूसो पर यह आरोप लगाया है कि वे आधुनिक लोकतंत्र के पितामह होने के बजाय आधुनिक अधिनायकवाद के पितामह हैं। टालमन के अनुसार एक सम्पूर्णतावादी व्यक्ति या किसी पार्टी द्वारा कभी भी स्वयं में 'जन-इच्छा' मूर्तिमान होने का दावा करके तानाशाही थोपी जा सकती है। अपनी आज्ञा का उल्लंघन 'जन-इच्छा' का उल्लंघन करार देने की जुर्रत की जा सकती है। इस आलोचना की रोशनी में देखने पर फ्रांसीसी क्रांति के बाद रॉब्सपियरे और अन्य क्रांतिकारियों द्वारा की गयी ज्यादतियों की ज़िम्मेदारी रूसो की लगती है। भले ही रूसो ने स्वयं कभी क्रांति की वकालत न की हो, पर इसमें कोई शक नहीं कि क्रांतिकालीन फ्रांस में रूसो के विचारों के इर्द-गिर्द उनका एक अतिवादी रैडिकल संस्करण विकसित हो गया था। ये तमाम क्रांतिकारी इसी तर्ज पर स्वयं को रूसो का अनुयायी मानते थे।

ऐसा लगता है कि रूसो ने अपनी इन आलोचनाओं का अंदाज़ पहले ही लगा लिया था। शायद इसीलिए अपनी पहली वार्ता की भूमिका में ही उन्होंने लिखा था : 'जो दृष्टिकोण मैंने अपनाया है उसके लिए मुझे सरलता से क्षमा प्रदान नहीं की जाएगी। वर्तमान समय में जिसकी सबसे अधिक प्रशंसा है उसका विरोध करके मैं अपने विरुद्ध बहुमुखी आलोचना के अलावा और क्या आशा कर सकता हूँ।'

देखें : अफ़लातून, अरस्तू, आग्युस्त कॉम्त, इमैनुएल कांट, ईसैया बर्लिन, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, कार्ल रायमुंड पॉपर, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रीड्रिख हिगेल, चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्क्यू, निकोलो मैकियावेली, मार्सिलियस पाडुआ के, सुकरात, संत थॉमस एक्विना।

संदर्भ

1. मोतीलाल भार्गव (अनु.) (1934), *रूसो की तीन वार्ताएँ*, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ (उप्र).
2. एल.डी. कूपर (1999), *रूसो, नेचर ऐंड द प्रॉब्लम्स ऑफ़ द गुड लाइफ़*, पेंसिलवानिया स्टेट युनिवर्सिटी प्रेस, युनिवर्सिटी पार्क पीए.
3. जे.सी. हाल (1972), *रूसो : ऐन इंट्रोडक्शन टू हिज पॉलिटिकल फ़िलासफ़ी*, मैकमिलन, बैसिंगस्टोक.
4. डब्ल्यू. हेंडेल (1962), *ज्याँ-जाक रूसो : मॉरलिस्ट*, लाइब्रेरी ऑफ़ द लिबरल आर्ट्स, न्यूयॉर्क.
5. जे.एल. टालमन (1970), *द ऑरिजिन ऑफ़ टोटेलिटेरियन डेमोक्रेसी*, स्फ़ेयर बुक्स, लंदन.
6. आर. वोल्कर (2001), *रूसो, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड*.

— अभय कुमार दुबे

ज्याँ-पॉल सार्त्र

(Jean-Paul Sartre)

विख्यात अस्तित्ववादी दार्शनिक और फ्रेंच नाटककार, उपन्यासकार और साहित्यालोचक ज्याँ-पॉल सार्त्र (1905-1980) के कृतित्व में न केवल अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद के साथ-साथ दर्शन और रचनात्मक साहित्य का असाधारण मेल दिखता है, बल्कि उनकी शरिषयत राजनीतिक रूप से प्रतिबद्ध आधुनिक बुद्धिजीवी का बेहतरीन नमूना भी पेश करती है। किसी भी तरह के सरकारी सम्मानों से सदा दूर रहने वाले सार्त्र ने 1964 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार स्वीकार करने से यह कह कर इनकार कर दिया था कि यह तो सड़े हुए आलुओं का एक बोरा भर है। वामपंथी रैडिकल चिंतन और राजनीति के लिए प्रासंगिक रहे सार्त्र कितने लोकप्रिय थे, इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनकी शवयात्रा में भाग लेने के लिए पचास हजार से ज्यादा लोग जमा हुए थे। एक दार्शनिक के रूप में उन्होंने अपनी शुरुआत एडमण्ड हसर के घटनाक्रियाशास्त्र का अध्ययन करके की थी। विशेष रूप से उन्होंने हसर द्वारा प्रतिपादित साभिप्राय और ज्ञानकृत चेतना के सूत्र में दिलचस्पी

दिखाई। सार्त्र के लिए इसका मतलब यह था कि मनुष्य किसी अनुभव को निष्क्रिय रूप से ग्रहण नहीं करता। उनका यही रुझान उनके शुरुआती दार्शनिक चिंतन में दिखाई दिया। उन्होंने मानवीय स्वतंत्रता का संधान करके उस कल्पनाशीलता को रेखांकित करने की कोशिश की जिसके तहत वह अपने जगत का आविष्कार कर सकता है। एक अस्तित्ववादी विचारक के रूप में अपनी सबसे बेहतर कृति *बीइंग ऐंड नथिंगनेस : अ फ़िनोमेनोजिकल ऑटोलॉजी* (1943) में सार्त्र के सरोकार इसी विचार के इर्द-गिर्द व्यक्त होते हैं। सार्त्र का राजनीतिक चिंतन काफ़ी रोचक है। रूसो के बाद वे फ्रांस के पहले चिंतक थे जिन्होंने बेहिचक व्यक्तिवादी और शुद्धतावादी विचार व्यक्त किये। उनके लेखन से हमें उस राजनीति की सीमा समझने का आधार भी मिलता है जिसमें मिलनसार क्रिस्म की सामाजिकता की कोई संकल्पना न हो। इसके अलावा सार्त्र ने कमरे में बंद लेखक की छवि भी तोड़ी। उन्होंने विपुल साहित्य और दर्शन का सृजन किया, लेकिन इसके साथ ही उन्होंने खुद को जनता और उनके मुहों से भी जोड़े रखा।

इक्कीसवीं सदी के चिंतन के लिए सार्त्र के बौद्धिक योगदान को पाँच दृष्टियों से देखा जा सकता है। पहली बात तो यह है कि सार्त्र कर्ता के रूप में मनुष्य की इयत्ता को देकार्त की भाँति रेखांकित करने के बजाय उसे 'इयत्ता के लिए मौजूद कर्ता' की तरह देखते हैं। सार्त्र का यह नवाचार इयत्ता से संबंधित कई वैकल्पिक सिद्धांतों को जन्म देने की सम्भावनाएँ खोल देता है। दूसरे, सार्त्र उत्तरदायित्व, मूल्य और उसूलों के बजाय प्रामाणिकता पर बल देने वाले विचारक हैं। इससे भी विचार की नयी सम्भावनाएँ खुलती हैं जिन्हें चार्ल्स टेलर जैसे चिंतकों ने स्वीकार किया है। तीसरे, सार्त्र ने दर्शन को एक अकादमीय अनुशासन के दायरे से निकाल कर एक जीवन-शैली के रूप में पेश किया। इससे एक्टिविस्ट फिलॉसफ़र की छवि बनी। चौथी बात यह है कि सार्त्र अपनी रचनाओं और चिंतन में नस्लगत शोषण और उत्पीड़न पर विशेष ध्यान देते हैं। उनके जीवन और कृतित्व का पाँचवा और बेहद महत्वपूर्ण पहलू है हमेशा और हर परिस्थिति में उत्पीड़ित का पक्ष लेना। हालाँकि खुद उनकी भाषा सेक्सिज़म के आरोप से मुक्त नहीं थी, पर उन्होंने अपनी साथी सिमोन को *द सेक्रण्ड सेक्स* जैसी क्लासिक रचना लिखने के लिए प्रोत्साहित करना जारी रखा। आगे चल कर यह रचना नारीवाद का शाहकार साबित हुई।

सार्त्र का जन्म पेरिस में हुआ था और उन्होंने अपना अधिकतर जीवन इसी शहर में गुज़ारा। 1929 में ईकोल नॉर्मले सुपीरियोरे से स्नातक बनने के बाद 1931 से 1945 तक उन्होंने विभिन्न विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की। कुछ समय तक वे सेना में भी रहे और उन्हें एक छोटी सी अवधि

तक युद्धबंदी के रूप में भी रहना पड़ा। सार्त्र का प्रसिद्ध नारीवादी चिंतक सिमोन द बोउवार के साथ सहजीवन का रिश्ता था। 1964 में इन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिया गया। इन्होंने यह पुरस्कार लेने से मना कर दिया। शुरु में सार्त्र मानवीय आजादी के विचार के इर्द-गिर्द ही लेखन और चिंतन करते थे। सिमोन और रेमण्ड अरॉन के अनुसार द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले सार्त्र की राजनीति में कोई रुचि नहीं थी। लेकिन 1945 के बाद उन्होंने सार्वजनिक मसलों में भी सक्रिय बौद्धिक भागीदारी शुरू की। उन्होंने नाटकों और उपन्यास-पाठ जैसी गतिविधियों के ज़रिये लोगों से अपना जुड़ाव क्रायम किया। बोउवार के साथ वे जीवन भर छोटे-बड़े संघर्षों से जुड़े रहे। इस रुझान ने उनके लेखन को भी गहराया से प्रभावित किया। सार्त्र ने अपनी एक आँख बचपन में ही खो दी थी। जीवन के आखिरी वर्षों में वे तकरीबन पूरी तरह अंधे हो गये थे। लेकिन फिर भी टेप रिकार्डर की मदद से उन्होंने अपना लेखन जारी रखा। 1980 में अपने देहांत के समय तक वे काफ़ी सक्रिय रहे। उनके निधन के बाद फ्रांस के एक प्रमुख अख़बार ने लिखा कि फ्रांस ने अपना अंतःकरण खो दिया है।

सार्त्र के शुरुआती दार्शनिक निबंध भावनाओं तथा इयत्ता (या सेल्फ़) की कल्पना और प्रकृति से संबंधित हैं। अपने उपन्यास *नौसिया* (1938) में उन्होंने इन्हीं मुद्दों को केंद्रस्थ किया है। इस कृति में बूर्ज्वा समाज की स्पष्ट और तीखी आलोचना सामने आती है। उपन्यास को दार्शनिक रूप में कैसे लिखा जा सकता है, यह रचना उसका एक नमूना थी। पाँच साल बाद जब *बीइंग ऐंड नथिंगनेस* का प्रकाशन हुआ तो पाठकों को समझ में आया कि इस उपन्यास का नायक किन अस्तित्ववादी विषय-वस्तुओं को सम्बोधित कर रहा था। हाइडेगर की तरह ही सार्त्र ने भी इस बात पर जोर दिया कि अस्तित्व आकारहीन होता है और इसका कोई सार नहीं होता है। व्यक्ति खुद को आकस्मिकताओं की अराजकता के बीच पाता है और उसका मार्गदर्शन करने के लिए कोई वस्तुनिष्ठ नैतिक नियम नहीं होते हैं। इसी तरह पहले से अस्तित्वमान कोई मानवीय प्रकृति भी नहीं होती जो जीवन को दिशा दे सके। ऐसी स्थिति में दर्शन का काम हमें दुनिया जिस तरीके से महसूस होती है उसे स्पष्ट करना होता है। अस्तित्ववादी चिंतन का सबसे गहनतम पहलू आशंका, बेमतलब होने की (या नथिंगनेस) की भावना, दूसरे के डर और मौत के प्रति जागरूकता के विश्लेषण से संबंधित है। जिंदगी नथिंगनेस से जुड़ी हुई है।

1947 में सार्त्र ने अपने निबंधों का एक संकलन *व्हाट इज़ लिटरेचर* शीर्षक से तैयार किया। सार्त्र एक अनूठे जीवनी-लेखक भी थे। उन्होंने न केवल अपनी बहुचर्चित आत्मकथा *वर्ड्स* लिखी, बल्कि उनकी विशद रचना गुस्ताव



ज्याँ-पॉल सार्त्र (1905-1980)

प्लाबेयर की जीवनी *द फ़ैमिली इंडियट* है। सार्त्र ने ज्याँ जेने की जीवनी भी लिखी। दरअसल, जेने और खुद की जीवनी के अलावा उनकी लिखी गयी बाक़ी जीवनियाँ उन्नीसवीं सदी के साहित्यकारों की थीं। शायद इसीलिए फ़ूको ने एक बार उन्हें उन्नीसवीं सदी का एक ऐसा व्यक्ति करार दिया था जो बीसवीं सदी के बारे में सोचने की कोशिश करता है। उनकी विख्यात उपन्यास त्रयी (*एज ऑफ़ रीज़न*, *आयरन इन द सोल* और *द रिप्रीव*) में उनका एक्टिविस्ट रूप सामने आता है। इसका प्रमुख कारण द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव था। इस दौर में उनके द्वारा लिखे गये नाटकों में भी उन्होंने अस्तित्ववाद से जुड़ी हुई दार्शनिक समस्याओं को उठाया।

राजनीति के बारे में उनका प्रमुख सैद्धांतिक काम *द क्रिटीक ऑफ़ डायलेक्टिकल रीज़न* है। इसके जरिये उन्होंने अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद को मिलाने की कोशिश की। लेकिन इस पुस्तक को काफ़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। यह कृति एक स्तर पर इतिहास के दर्शन के रूप में काम करती है। इसमें द्वंद्वात्मक तर्कबुद्धि की पेशकश है जिसकी मदद से हर व्यक्ति की योजना को इतिहास की पूर्णता के हिस्से के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन सार्त्र ने इस रचना में जिस तरह से व्यक्तियों का विवरण दिया है, उससे पुस्तक का व्यापक लक्ष्य थोड़ा पीछे छूट जाता है। वे नीतिशास्त्र पर

लिखी जाने वाली एक दूसरी किताब में इसका पूरा औचित्य बताना चाहते थे, लेकिन वह कृति वे पूरी नहीं कर पाये।

सार्त्र ने सीरीज़ और गुप-इन-प्रयूजन में रहने वाले व्यक्तियों के बीच अंतर किया है। सीरीज़ से सार्त्र का तात्पर्य रोज़मर्रा की ऐसी जिंदगी से है जिसमें कोई मक़सद या इच्छा शामिल नहीं होती है। इसमें लोग बुरी आस्था (बैड फ़ैथ) के शिकार होते रहते हैं। उद्देश्यों में आकस्मिक समानता होने के कारण ही लोग एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए सार्त्र ने ऐसे लोगों का उदाहरण दिया है जो बस में चढ़ने के लिए लाइन में खड़े होते हैं। सार्त्र गुप-इन-प्रयूजन में ऐसे क्रांतिकारी समूहों को शामिल करते हैं जिसके सदस्यों ने इतिहास बदलने की एक समान योजना में भागीदारी की, और इसके जरिये प्रामाणिक नैतिक आज्ञादी हासिल की। रोचक बात यह है कि इस राजनीतिक सिद्धांत में ग़रीब और वंचित लोगों के लिए वास्तविक उपायों पर कम ध्यान दिया गया है। इसके बजाय उन्होंने अस्तित्व की समस्या पर ज्यादा रोशनी डाली है। उनके इस तरह के तर्क के आधार पर हिंसा का औचित्य भी साबित किया जा सकता है।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ़्रीड्रिख हिगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, ज़ाक लकाँ, ज्याँ-फ़्रांस्वा ल्योतर, ज़ाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, द्वैतवाद, फ़्रेड्रिख नीत्से, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

संदर्भ

1. क्रिस्टीना हॉवेल्लस (सम्पा.) (1992), *केम्ब्रिज कम्पैनिन टू सार्त्र*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. विलियम लियन मैकब्राइड (1991), *सार्त्रज पॉलिटिकल थियरी*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.
3. एस. जूलियन मफ़ी (1999), *फ़ेमिनिस्ट इंटरप्रिडेशन ऑफ़ ज्याँ-पॉल सार्त्र*, पेनसिलवानिया स्टेट युनिवर्सिटी प्रेस, युनिवर्सिटी प्रेस, पीए.
4. जोनाथन वेबर (सम्पा.) (2011), *रीडिंग सार्त्र : ऑन फ़िनॉमेनॉलॉजी ऐंड एग्जिस्टेंशियलिज़म*, रॉटलेज, लंदन.

— कमल नयन चौबे

जिहाद

(Jehad)

जिहाद शब्द अरबी भाषा के शब्द जुअहद से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है लगातार प्रयास करना, संघर्ष करना, मेहनत करना। इस शब्दार्थ की दृष्टि से किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देने और हर सम्भव कोशिश का नाम जिहाद है। जिहाद का सर्वाधिक उल्लेख कुरान शरीफ में हुआ है जहाँ इसे मुसलमानों का धार्मिक कर्तव्य बतलाया गया है। जिहाद करने वाला मुजाहिद कहलाता है। इस्लामिक धर्मशास्त्र में जिहाद को अल्लाह के मार्ग में पवित्र युद्ध एवं ग़ैर-मुसलमानों के विरुद्ध एक रक्षात्मक संघर्ष के रूप में पेश किया गया है। जिहाद का लक्ष्य है दुनिया भर में लोगों को खुदा के क़ानून की अधीनता में लाना। इसलामी क़ानून संसार को दो भागों में बाँट कर देखता है। पहला है दार-उल-इसलाम यानी इसलामी राज्य एवं दूसरा दार-उल-हर्ब यानी ग़ैर-इसलामी राज्य। जिहाद के संदर्भ में विद्वानों द्वारा कुरान की कई आयतों की यह व्याख्या की गयी है कि प्रत्येक मुसलमान का यह कर्तव्य है कि वह ग़ैर-मुसलिम को इसलाम की दावत दे और उनके देश को इसलामी राज्य बनाने के लिए युद्ध करे। कुरान, हदीस (पैग़म्बर के क्रियाकलापों और व्यक्तिगत बयानों का लेखा-जोखा जो कुरान के सिद्धांतों की व्याख्या के लिए प्रयुक्त होता है) एवं इसलामी फ़िक्ह (विधि जिसके चार प्रकार हैं-हनीफ़ी, मालिकी, श़ाफ़ी और हमबाली) के अनुसार जिहाद एक आवश्यक धार्मिक कर्तव्य है जिसे विशेष रूप से इसलाम के प्रसार के लिए तथा मुसलमानों में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए निभाया जाता है।

जिहाद के अर्थ के संबंध में इसलामी फ़िरकों (शिया, सुन्नी, अहमदिया, वहाबी आदि) में मतभेद हैं। लेकिन इन मतभेदों के बावजूद इसलाम में जिहाद के महत्त्व को कोई नहीं नकारता। दरअसल, इसलाम के पाँच प्रमुख स्तंभों (अल्लाह, नमाज़, रोज़ा, हज और ज़कात) के बाद इसे इसलाम का छठा स्तंभ माना जाता है। जिहाद को ईश्वर पर ईमान लाने के बाद सभी मानवीय कर्मों में सबसे उच्च स्थान दिया गया है और जिहादी को ईश्वरीय अनुकम्पा एवं स्वर्ग में विशेष स्थान और सुविधाओं की प्राप्ति का आश्वासन दिया गया है।

जिहाद की अवधारणा समय-समय पर बदलती रही है। आरम्भिक दौर में जिहाद की व्याख्या आक्रामक एवं विस्तारवादी थी, पर बाद में इसकी सूफ़ी अवधारणा विकसित हुई जिसमें इसे व्यक्ति के आत्मविकास से जोड़ दिया गया।

इसमें जिहाद बुराई के विरुद्ध एक आध्यात्मिक संघर्ष है। इसलाम के अधिकांश आधुनिक सम्प्रदाय आंतरिक या आध्यात्मिक जिहाद पर बल देते हैं जिसमें अपने अंदर मौजूद बुराइयों एवं समाज में प्रकट होने वाली बुराइयों से लड़ाई को जिहाद की संज्ञा दी जाती है। जिहाद की कट्टर व्याख्या इस सिद्धांत पर आधारित है कि इसलामी मत विश्व में सभी के लिए वैध है और उसे हथियारों का प्रयोग करके भी फैलाना चाहिए। इस प्रकार के जिहाद का उद्देश्य सम्पूर्ण पृथ्वी पर मुसलिम आधिपत्य की स्थापना है। इस व्याख्या ने जिहाद के अहिंसक आधार को हिंसक, क्रूर एवं आक्रामक रूप में स्वीकार किया है। इसी व्याख्या के कारण जिहाद आतंकवाद के पर्याय के रूप में देखा जाने लगा है। जबकि जिहाद के लिए कुरान में पहले अहिंसात्मक और फिर हिंसात्मक साधनों के प्रयोग की अनुमति दी गयी है, साथ ही यह शर्त भी लगायी गयी है कि जिहाद तभी वैध है जब वह ईश्वरीय मार्ग में किया गया हो।

कुरान की आयतों की व्याख्या के आधार पर विद्वानों द्वारा जिहाद के दो प्रकार बताये गये हैं। पहला जिहाद-अल-अकबर या बड़ा जिहाद तथा दूसरा जिहाद-अल-असगर या छोटा जिहाद। जिहाद-अल-अकबर स्व-सुधार से संबंधित है, जिसमें व्यक्ति अपने नकारात्मक सोच, इच्छाओं और क्रियाकलापों को दबाता या उन पर रोक लगाता है। जब मुसलमानों को उनके धार्मिक कर्तव्यों के पालन में बाधा पहुँचायी जाती है, उन पर अत्याचार किये जाते हैं तब इन ज्यादतियों को रोकने की कोशिश करना जिहाद-अल-असगर है। यानी जिहाद-अल-असगर का लक्ष्य इसलाम के संरक्षण के लिए संघर्ष करने से है। छोटे जिहाद की ग़लत व्याख्या के कारण ही आजकल जिहाद को आतंकवाद से जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार जिहाद का एक प्रकार युद्धपरक है, जबकि दूसरा प्रकार नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास से संबंधित है। इन दोनों प्रकार के जिहाद का पालन करने के चार साधन बताये गये हैं : मन, वाणी, कर्म एवं तलवार। मन द्वारा जिहाद का अर्थ मन से बुरे विचारों को निकालना एवं बुरी भावनाओं पर विजय प्राप्त करके आत्मशुद्धि करना है। वाणी द्वारा इसलाम का प्रचार करना दूसरा साधन है। उल्लेखनीय है कि इसलाम में प्रचारात्मक जिहाद का विशेष महत्त्व है। इसमें तर्क-वितर्क द्वारा विपक्ष को पराजित किया जाता है। अच्छे कर्म करते हुए बुरे कर्मों से दूर रहना कर्म द्वारा जिहाद है। जिहाद का अंतिम साधन है इसलाम की रक्षा हेतु तलवार उठाना।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो जिस समय इसलाम एक धार्मिक विचारधारा के रूप में विकसित हो रहा था, उस समय अरब के समाज में अव्यवस्था का बोलबाला था। अन्य धर्मों की भाँति इसलाम धर्म भी सुख-शांति और

समानता स्थापित करने के मकसद से उभरा। इस्लाम स्वीकार करने से पूर्व मध्य एशिया के कबीले बहुदेववादी थी। वे अनेक सामाजिक बुराइयों एवं परस्पर लड़ाई-झगड़े में लिप्त थे। इस्लाम स्वीकार कर लेने के बाद इन कबीलों ने आस-पास के समृद्ध इलाकों पर आक्रमण किया। उस समय इनका उद्देश्य लूटपाट करने के साथ विजित क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार-प्रसार करना भी होता था।

सबसे पहला जिहादी युद्ध अरब में स्थानीय लोगों, यहूदियों और ईसाइयों के विरुद्ध लड़ा गया। इस्लाम के उद्भव काल में जिहाद का जो उद्देश्य इस्लामिक आस्था का विस्तार था वह कालांतर में मुसलिम सत्ता के विस्तार में बदल गया। इसी तरह प्रारम्भ में जिहाद सामाजिक अव्यवस्था को व्यवस्थित करने की एक कार्य प्रणाली थी लेकिन धीरे-धीरे उसे राज्य क्षेत्र के विस्तार के लिए प्रयोग किया जाने लगा।

देखें : अबू-अला मौदूदी, अल-किंदी, अल-गजाली, इब्न खाल्दून, प्रारम्भिक इस्लाम, फलसिफा और कलाम, भारतीय इस्लाम, मसजिद, मुहम्मद अली जिन्ना, मुहम्मद इक़बाल, हज़रत मुहम्मद-1 और 2, सैयद अहमद खाँ।

संदर्भ

1. नूर मुहम्मद (1985), 'द डॉक्ट्रिन ऑफ़ जिहाद : एन इंट्रोडक्शन', *जर्नल ऑफ़ लॉ ऐंड रिलीजन*, खण्ड 3, अंक 2.
2. रुडोल्फ पीटर्स (1996), *जिहाद इन क्लासिकल ऐंड मॉडर्न इस्लाम*, मार्कुस वाइजर, प्रिंसटन.

— प्रीति सागर

जिगमण्ड फ्रायड-1

(शिशु सेक्शुअलिटी और मातृ मनोग्रंथि)

(Sigmund Freud-1)

मनोविश्लेषण के पितामह और आस्ट्रिया के तंत्रिकाविज्ञानी जिगमण्ड स्कोमो फ्रायड (1856-1939) के विचारों और सूत्रीकरणों ने बीसवीं सदी में मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, अर्थ-विज्ञान, सेक्शुअलिटी-अध्ययन, नारीवाद और कला संबंधी चिंतन को गहराई से प्रभावित किया है। समझा जाता है कि कार्ल मार्क्स के बाद सम्भवतः फ्रायड के सिद्धांतों को ही चिंतन-जगत में सर्वाधिक परिवर्तकारी हस्तक्षेप करने का श्रेय है। जिस तरह मार्क्स के संदर्भ में विचारों की दुनिया को उनके पक्ष और विपक्ष में बाँटा माना जाता है, वही स्थिति फ्रायड के संबंध में भी है। डॉक्टर ऑफ़ मेडिसिन और

न्युरोपैथोलॉजी के प्रोफ़ेसर फ्रायड द्वारा ईजाद मनोविश्लेषण न सिर्फ़ मनोवैज्ञानिक समस्याओं के समाधान की एक नैदानिक पद्धति साबित हुई, बल्कि उसने इनसान के व्यक्तित्व और व्यवहार को उसकी गहनतम प्रेरणाओं की रोशनी में देखने रास्ता खोला। इस सिद्धांत ने व्यक्ति के मन और समाज के संबंध में जो विचार दिये उसने व्यक्ति के मानस की तितरफ़ा संरचना का उद्घाटन किया। फ्रायड ने सेक्शुअलिटी को नये सिरे से परिभाषित करते हुए उसे मनोविश्लेषण के केंद्र में स्थापित किया। उन्होंने सेक्शुअलिटी को शैशवकाल से जोड़ा और इस संदर्भ में विकसित ईडिस ग्रंथि (इडिपस कॉम्प्लेक्स) का सूत्रीकरण किया। मनोविश्लेषण की पद्धति में मानसिक रोग को पहचानने के लिए दमित इच्छाओं के रूप में सपनों की व्याख्या की जाती है। इनके अनुसार चेतन के स्तर पर मूलभूत इच्छाओं के दमन (रिपेशन) से अवचेतन (अनकांशस) बनता है। फ्रायड के मुताबिक यौनेच्छा (लिबिडो) वह मूलभूत कारक है जो सभी प्रकार की संलिप्तताओं (एटेचमेंट्स), जीवन, मृत्यु-बोध और मनोभावों का मूल है। फ्रायड के मनोविश्लेषण के गर्भ से धर्म और संस्कृति की नयी व्याख्याएँ सामने आयी हैं।

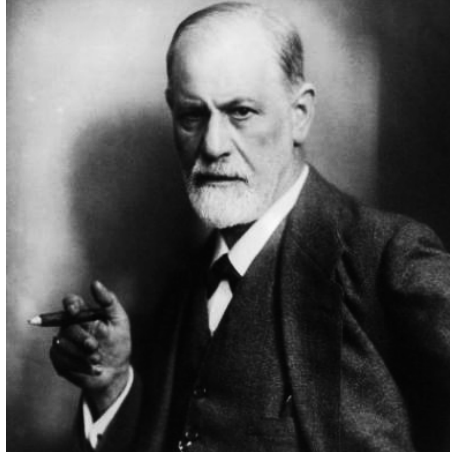
फ्रायड जर्मन भाषा के प्रचुर लेखक थे। उनकी रचनाओं का अंग्रेज़ी अनुवाद बेहद लोकप्रिय ढंग से सारे विश्व में पढ़ा जाता है। उनकी पुस्तकें फुटपाथों पर भी आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं। लेकिन उनके विचार अत्यंत जटिल हैं। उन्हें समझने के लिए उनकी पृष्ठभूमि समझना जरूरी है। उनकी शाहकार रचना *इंटरप्रिटेशन ऑफ़ ड्रीम्स* (1900) उस मानसिक संकट का फलितार्थ थी जो फ्रायड को अपने पिता की मृत्यु के कारण झेलना पड़ा था। इस दौरान फ्रायड को तरह-तरह के सपने आते थे जिनके जरिये उन्हें एहसास हुआ कि उन्हें अपने पिता से प्रेम भी था और एक तरह की नफ़रत भी। अपने इसी मिले-जुले लेकिन परस्पर विरोधी एहसास को फ्रायड ने एम्बिवलेंस या द्वैध क्रार दिया है। अपनी द्वैधवृत्ति का विश्लेषण करने पर उनके सामने अपनी उस स्वैर-कल्पना का उद्घाटन हुआ जिसके तहत उन्होंने कई बार चाहा था कि उनके पिता की मृत्यु हो जाए ताकि उनकी माँ के स्नेह का कोई दूसरा पात्र न हो। यानी वे माँ के प्यार के संदर्भ में अपने पिता को अपने प्रतियोगी के तौर पर देखते थे। अपनी इन अनुभूतियों को उन्होंने कई लक्षणों की कसौटी पर कस कर देखा और पाया कि इसकी व्याख्या एक ग्रंथि के तौर पर की जा सकती है। फ्रायड के इस तजरुबे ने आगे चल कर मातृ मनोग्रंथि के विख्यात सूत्रीकरण में उनकी मदद की।

1901 में फ्रायड की रचना *साइकोपैथी ऑफ़ एवरीडे लाइफ़* प्रकाशित हुई। 1905 में *श्री एसेज़ ऑन द थियरी ऑफ़ सेक्शुअलिटी* सामने आयी। 1916 में *फ़ॉइव लेक्चर्स*

ऑन साइकोएनालैसिस का प्रकाशन हुआ। 1923 में फ्रायड ने द ईगो ऐंड द इड की रचना की।

शिशु-सेक्सुअलिटी और मातृ मनोग्रंथि : शिशु-सेक्सुअलिटी का सूत्रीकरण करते समय फ्रायड अपने मित्र जोसेफ ब्रुअर की इस खोज से प्रभावित थे कि बचपन की तकलीफ़देह घटनाओं की याद वयस्क व्यक्ति के निर्माण में नकारात्मक भूमिका का निर्वाह करती हैं। इसी खोज के आधार पर यह सिद्धांत काम करता है कि बचपन के यौन-अनुभव बाद में शिखिसयत की रचना करते हैं। फ्रायड की मान्यता थी कि शिशु माँ के स्तनों को चूस कर जो सेक्सुअल आनंद प्राप्त करता है, उससे उनकी मानसिक ऊर्जा मुक्त होती है। इसे वे विकास के 'ओरल' चरण की संज्ञा देते हैं। विकास का दूसरा चरण 'एनल' है जो शिशुओं द्वारा शौच क्रिया के दौरान माँ द्वारा उनके मल-द्वार की सफ़ाई के समय उन्हें मिलने वाले सेक्सुअल आनंद से जुड़ा होता है। इसके बाद आता है 'फ़ैलिक' चरण जब शिशु अपने से विपरीत यौनिकता के प्रति गहरा आकर्षण महसूस करने लगता है।

इसी मक़ाम पर मातृ मनोग्रंथि का सिद्धांत उभरता है जिसके अनुसार बालक-शिशु में माँ के प्रति एक यौनेच्छा (सेक्सुअल फ़ीलिंग) पैदा होती है जिसकी वजह से पिता के प्रति इर्ष्या का भाव होता है। बढ़ती हुई उम्र के साथ इस अनुभूति के दमन के क्रम में सेक्सुअल परिपक्वता के विभिन्न चरणों का विकास होता है। बालिका-शिशु में भी इसी प्रकार की भावना होती है जिसके तहत पिता के प्रति आकर्षण और माँ से प्रतियोगिता हो जाती है। इसे फ्रायड के समर्थक अन्य विद्वानों ने इलेक्ट्रा ग्रंथि (इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स) का नाम दिया। यह ग्रंथि साइकोसोशल डिवेलपमेंट के एक चरण (फ़ैलिक स्टेज) में होती है जो तीन से पाँच वर्ष की उम्र में पनपता है। यह ग्रंथि इद का रूप है। एक स्वस्थ वयस्क के रूप में विकास के लिए बच्चे को अपने पिता या माता के साथ अपनी पहचान जोड़नी पड़ती है। इसी बिंदु पर अहम (ईगो) का विकास होता है। ईगो यथार्थवादी रूप से यह समझता है कि पिता/माता बहुत मज़बूत हैं। उन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता। इसी बिंदु पर फ्रायड ने बधियाकरण संबंधी दुश्चिंता (कैस्ट्रेशन एंजाइटी) की अवधारणा दी। इस द्वंद्व के समाधान के लिए अंततः लड़का पिता से और लड़की माँ से अपनी पहचान जोड़ने लगती है, जिससे सुपर ईगो का विकास होता है। सुपर ईगो पिता / माता की छवि के रूप में वह नैतिक



जिग्मंड स्कोमो फ्रायड (1856-1939)

सत्ता है जो इद का दमन करता है और ईगो जिसकी प्रेरणाओं के आधार पर काम करता है। फ्रायड ने टोटेम का मानवशास्त्रीय अध्ययन भी किया था। टोटेम जनजाति में इडिपस द्वंद्व को कर्मकाण्डीय तरीके से सुलझाने की विधि है। व्यक्ति का वयस्क-विकास सामान्य होगा या असामान्य—यह इस बात पर निर्भर है कि इडिपस द्वंद्व को वह कैसे सुलझाता है। फ्रायड के कुछ अनुयायियों की मान्यता है कि जब व्यक्ति माता-पिता में से अपनी ही लैंगिकता के साथ जुड़ने में अक्षम हो जाता है तो उसके भीतर समलैंगिकता के विकास की सम्भावनाएँ बनती हैं।

साइकिक एनर्जी : फ्रायड के ऊपर दूसरा सबसे बड़ा प्रभाव उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में विकसित हेमहोल्ट्ज़ द्वारा प्रतिपादित उन सिद्धांतों का पड़ा जो यह साबित करते थे कि प्रत्येक शारीरिक प्रणाली दरअसल अपने भीतर मौजूद ऊर्जा

की कुल मात्रा का पर्याय है। यह मात्रा आम तौर पर स्थिर रहती है और इसे बदला जा सकता है पर नष्ट नहीं किया जा सकता। इसी सिद्धांत के सहारे आगे चल कर थर्मोडायनामिक्स, इलेक्ट्रोमैग्नेटिज़म और आणुविक भौतिकी के क्षेत्र में युगांतरकारी खोजें हुईं। फ्रायड ने 17 वर्ष की उम्र में वियना विश्वविद्यालय की मेडिकल फ़ैकल्टी में प्रवेश लिया। वहाँ उन्हें अंस्ट्र ब्रुक के साथ काम करने का मौक़ा मिला। ब्रुक 1874 में एक किताब लिख कर मनुष्य के ऊर्जा-प्रणाली होने के सिद्धांत का प्रतिपादन कर चुके थे। इसी सिद्धांत के सहारे फ्रायड अपनी इस बुनियादी प्रपत्ति पर पहुँचे कि मानव मस्तिष्क मूलतः एक जटिल क्रिस्म की ऊर्जा-प्रणाली है। यही था वह रास्ता जिसने फ्रायड को साइकिक एनर्जी जैसी अवधारणा के सूत्रीकरण में मदद की।

वियना विश्वविद्यालय में उन्होंने उन्होंने दर्शन, शरीर-क्रिया विज्ञान और प्राणि-विज्ञान का अध्ययन किया और 1881 में एमडी की डिग्री ली। अगले साल उन्होंने वियना जनरल हॉस्पिटल के मनोचिकित्सा क्लिनिक में अपनी प्रैक्टिस शुरू की और 1886 में तंत्रिका-दोष (नर्वस डिसऑर्डर) के उपचार की विशेषज्ञता के साथ निजी प्रैक्टिस प्रारम्भ की। इसी साल उनका विवाह हुआ। फ्रायड पर ब्रेनटनो द्वारा प्रतिपादित संज्ञान (परसेप्शन) और अंतर्ज्ञान (इंट्रोस्पेक्शन) संबंधी सिद्धांतों का; और थियोडोर लिप्स के अचेतन मस्तिष्क (अनकांशस माइंड) और अनुभूति (इम्पैथी) की अवधारणाओं का प्रभाव पड़ा।

फ्रायड के चिंतन पर चार्ल्स डार्विन की अवधारणाओं का भी ज़बरदस्त असर था। दरअसल डार्विन की रचना *ओरिजिंस ऑफ़ स्पीशीज़* से पहले मनुष्य को एक नश्वर आत्मा के स्वामी के तौर पर देखा जाता था। यह बौद्धिक रवैया मनुष्य की जाँच-पड़ताल में बाधक था। डार्विन ने जब मनुष्य के क्रम-विकास का उद्घाटन किया तो उसे प्राकृतिक जगत के एक ऐसे सदस्य के रूप में देखने का चलन बढ़ा जो अन्य जीवों से केवल संरचनात्मक रूप से ही भिन्न था। इस विचार ने मनुष्य को वैज्ञानिक खोजबीन का विषय बना दिया। फ्रायड को इस बात का एहसास था कि अगर डार्विन न होते तो शायद वे मनुष्य के मस्तिष्क में झाँक कर भीतर की थाह लेने की ज़रूरत भी न कर पाते।

फ्रायड ने साइकोपैथोलॉजी की प्रैक्टिस में अपने प्रशिक्षणों के अनुसार सम्मोहन की पद्धति का उपयोग किया। 1896 तक वे अपनी उन अवधारणाओं, सिद्धांतों और पद्धतियों का विकास कर चुके थे जिन्हें उन्होंने मनोविश्लेषण (साइकोएनालिसिस) का नाम दिया। इस समय तक इन्होंने थियरी ऑफ़ फ्री एसोसिएशन का विकास भी कर लिया था और मानसिक समस्याओं के लक्षणों को देखकर और सपनों की व्याख्या के आधार पर संबंधित दमन की शिनाख्त करने की शुरुआत भी कर दी थी। 1897 तक फ्रायड ने शैशवकालीन यौनेच्छा की अवधारणा विकसित कर ली जिसका विकास इडिपस ग्रंथि की अवधारणा में हुआ।

देखें : मनोविज्ञान-1 और 2, सामाजिक मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, कार्ल गुस्ताव युंग, जाक लकाँ, एरिक फ्रॉम, एरिक एरिकसन, चेतना, इयत्ता, मनोविश्लेषण और नारीवाद।

संदर्भ

1. जे.बी. एब्रैम्सन (1984), *लिबरेशन ऐंड इट्स लिमिट्स : द मॉरल ऐंड पॉलिटिकल थॉट्स ऑफ़ फ्रायड*, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. एम. कैवेल (1993), *द साइकोएनालिटिक माइंड : फ्रॉम फ्रायड टू फ़िलॉसफ़ी*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

— राकेश श्रीवास्तव

ज़िग्मंड फ्रायड-2

(अवचेतन और सपने)

(Sigmund Freud-2)

फ्रायड द्वारा प्रतिपादित अवचेतन की धारणा का चरित्र बेहद निर्धारणवादी था। वे पहले चिंतक थे जिसने दावा किया कि मानवीय व्यवहार को उसकी सभी क्रिस्मों में व्याख्यायित करने के लिए उन मानसिक प्रक्रियाओं का उद्घाटन करना होगा जो आम तौर पर छिपी होती हैं। मानस की इसी गतिविधि से मानवीय व्यवहार निर्धारित होता है। इस सूत्रीकरण से पहले सदियों से यही मान्यता चली आ रही थी कि मस्तिष्क में जो कुछ घटित होता है उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। लेकिन फ्रायड ने किसी बात पर जुबान फिसलने या किसी तरह के सनकी व्यवहार या किसी क्रिस्म के सपने जैसी परिघटनाओं के कारणों को व्यक्ति के मानस में निहित होने पर ज़ोर दिया। अवचेतन की इस धारणा का एक फलितार्थ तो यह हुआ कि मानवीय इच्छा या संकल्प की स्वतंत्रता का विचार पुष्ट हुआ। समझा गया कि अगर व्यक्ति द्वारा किया गया चयन उसके मानस में छिपी बैठी उसकी इच्छाओं से स्वतंत्र प्रक्रियाओं में निहित है, तो मनुष्य को बंधनमुक्त इच्छा या संकल्प का स्वामी माना जा सकता है। फ्रायड ने यह भी कहा कि अवचेतन का क्षेत्र चेतन मस्तिष्क के बाहर नहीं होता, बल्कि उसे मनोविश्लेषण की दीर्घकालीन प्रक्रिया के जरिये ही बाहर लाया जा सकता है। उन्होंने इसके लिए उस हिम-खण्ड की उपमा का इस्तेमाल किया जिसके मामूली से भाग को छोड़ कर ज़्यादातर हिस्सा पानी के नीचे ही रहता है।

फ्रायड ने पहले-पहल अवचेतन की चर्चा दमन (रिप्रेसन) की अवधारणा के संदर्भ में की थी। वे सम्मोहन के जरिये हिस्टिरिया के मरीज के मस्तिष्क में उन भावों को डालकर उनका इलाज करते थे जिनके प्रति मरीज़ चेतन रूप जागरूक नहीं होता है। दरअसल, अवचेतन की अवधारणा दमन के सिद्धांत पर ही आधारित है। मान्यता यह है कि विचार अपने दमन के उपरांत भी मस्तिष्क में बने रहते हैं। भले ही जागरूक रूप से उनके बारे में ध्यान न रह जाता हो, पर फिर विचार और भाव मस्तिष्क में जगह बनाये रखते हैं और अनुकूल परिस्थिति में फिर से उभर कर चेतन मस्तिष्क में आ सकते हैं। चेतन मस्तिष्क के बारे में हमें पता रहता है और उन विचारों के बारे में हम तर्कसंगत ढंग से सोचते और काम करते हैं। स्मृति की ऊपरी बातें आसानी से पुनः याद करके होशोहवास में उपयोग में लायी जा सकती हैं। साधारण स्मृति को फ्रायड ने प्री-कांशस करार दिया। अवचेतन में वे

सभी भावनाएँ, विचार, उद्वेग और स्मृतियाँ शामिल हैं जो दबी पड़ी हैं। अवचेतन के अधिकांश विचार दुखद होते हैं जैसे दुश्चिंता, द्वंद्व आदि। सपने और चुटकुले अवचेतन की मानसिक गतिविधियाँ हैं क्योंकि अवचेतन विचारों को घनीभूत कर या अन्योक्ति के माध्यम से प्रतीक बनाता है। इसलिए फ्रॉयड ने माना कि सुनिश्चित पद्धतियों के माध्यम से सपनों की व्याख्या की जा सकती है। प्रत्येक सपने का संबंध दैनंदिन के जीवन के किसी-न-किसी दमित भाव से है। सपनों के बारे में फ्रॉयड का कहना था कि ये पूरी तरह प्रतीकात्मक होते हैं जिनमें कोई जाहिर अर्थ भी हो सकता है और अवचेतन में दबे पड़े विचारों की प्रतीकात्मकता भी हो सकती है। सपने हमारी आकांक्षाएँ का पता देते हैं जो पूरी नहीं हुईं और जिन्होंने अवचेतन में जगह घेर रखी है।

फ्रॉयड के मुताबिक मानसिक उर्जा (साइकिक एनर्जी) का मूल यौनेच्छा (लिबिडो) होती है। साइकोसोशल विकास के अलग-अलग चरणों में लिबिडो की आनंद चाहने वाली उर्जा शरीर के अलग-अलग भागों में केंद्रित रहती है और बाहर भी उसके ध्यान के केंद्र अलग-अलग होते हैं। बच्चा जब जन्म लेता है तो बाहर की कोई भी वस्तु उसके लिए आनंद का कारण हो सकती है। मौखिक-चरण (ओरल स्टेज), गुदा-चरण (एनल स्टेज), फ़ैलिक स्टेज, इडिपस स्टेज, लैटेंसी स्टेज, जेनाईटल स्टेज विकास के विभिन्न चरण होते हैं। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए प्रत्येक चरण की उर्जा को आनंद के अपने केंद्र पर मुक्त होना चाहिए। किसी भी चरण में जो द्वंद्व बचा रह जाता है वह संबंधित विशेष बिंदु पर अटका रह कर यह सनक (ऑब्सेशन) के रूप में जमा रह जाता है।

फ्रॉयड के मुताबिक मानस (साइक) के तीन भाग होते हैं : इड, ईगो और सुपर-ईगो। इड अवचेतन का संवेग है और यह विशुद्ध रूप से आनंद के सिद्धांत (प्लैज़र प्रिंसिपल) पर काम करता है। ईगो, इड के सामाजिक रूप से अस्वीकार्य व्यवहार को रोकता है और संवेगों और इच्छाओं को दबाता है। यह मानस का तार्किक भाग है जिसका संबंध वास्तविकता से है और जो सामाजिक रूप से स्वीकार्य तरीके से इड की इच्छाओं को पूरा करता है। सुपर-ईगो का तात्पर्य सामाजिक नैतिक और मान्यताओं से है जो मानस का अंग बन चुकी हैं। जब इड की आकांक्षाओं और सुपर-ईगो के निर्देशों के बीच द्वंद्व गहरा होता है और अहम का काम सामान्य तर्कों से नहीं चलता तो जो तरीके अपनाये जाते हैं उन्हें मानसिक प्रतिरक्षा के उपाय (डिफेंस मैकेनिज़म) कहते हैं, जैसे नकार (डिनायल), दबाना (रिप्रेसन) और अतीतोन्मुखता (रिग्रेशन) आदि।

फ्रॉयड ने अवचेतन की चालक शक्तियों की शिनाख्त

संवेगों के रूप में की और उनकी दो क्रिस्में बतायीं : पहले क्रिस्म के संवेगों को उन्होंने इरोज़ या जीवन-वृत्ति की संज्ञा दी (जिनके जरिये व्यक्ति खुद का संरक्षण करता है और जो व्यक्ति को यौनानंद और श्रांगारिकता की तरफ ले जाती हैं), और दूसरे क्रिस्म के संवेगों को उन्होंने थानाटोज़ या मृत्यु-वृत्ति करार दिया (जो उसकी आक्रामकता, विध्वंस और क्रूरता की नुमाइंदगी करती हैं)। स्वयं को हानि पहुँचाने वाले व्यवहार (सेल्फ डिस्ट्रक्टिव बिहेवियर) मृत्यु-वृत्ति की ही अभिव्यक्ति हैं। यही उर्जा जब बाहर की ओर होती है तो क्रोध (एग्रेशन) का रूप ले लेती है और जब अंदर की ओर तो अवसाद (डिप्रेसन) का।

फ्रॉयड ने अपना अधिकांश जीवन वियना में बिताया। 1880 के दशक के मध्य से उन्होंने वियना विश्वविद्यालय में व्याख्याता के तौर पर प्रति शनिवार एक छोटे से समूह के सामने व्याख्यान देना शुरू किया जो सिलसिला 1919 तक चलता रहा। 1902 से उन्होंने अपने घर पर ही वेडनस डे साइकोलॉजिकल सासाइटी की शुरुआत की। इसे ही वैश्विक मनोविश्लेषण आंदोलन का आरम्भ माना जाता है। इस समूह के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य अल्फ्रेड एडलर थे जो मनोचिकित्सा में सामाजिक प्रभाव के अध्ययन के लिए जाने जाते हैं। 1906 तक चिकित्सा और मनोचिकित्सा जगत के सोलह अहम व्यक्ति वेडनस डे सासाइटी के सदस्य बन चुके थे। 1907 में फ्रॉयड से प्रभावित हो स्वित्ज़रलैण्ड के मनोचिकित्सक कार्ल युंग ने जूरिख में एक छोटा सा मनोविश्लेषण समूह आरम्भ किया।

1908 में वेडनस डे समूह का नाम वियना साइकोएनालिटिकल सासाइटी हो गया। इसी साल फ्रॉयड के अनुयायियों की एक औपचारिक बैठक सालज़बर्ग में आरम्भ हुई जिसे प्रथम अंतर्राष्ट्रीय मनोविश्लेषण कांग्रेस का नाम दिया गया। 1910 की न्यूरेमबर्ग कांग्रेस में इंटरनैशनल एसोसिएशन ऑफ़ साइकोएनालिस्ट्स की शुरुआत हुई जिसके प्रथम अध्यक्ष युंग बनाये गये। फ्रॉयड ने अंग्रेज़ी-भाषी मेडिकल और अकादमिक संसार में मनोविश्लेषण आंदोलन को फैलाने के लिए ब्रिल और जॉस की मदद ली। फ्रॉयड ने 1909 में अमेरिका की यात्रा की जहाँ उन्होंने क्लार्क विश्वविद्यालय में भाषण दिये। यहीं फ्रॉयड को मानद डॉक्टरेट की उपाधि दी गयी और प्रेस ने इस कार्यक्रम को बहुत महत्त्व दिया। जल्द ही अमेरिका में फ्रॉयड के कार्यों को अत्यधिक मान्यता मिलने लगी। 1911 में अमेरिकन साइकोएनालिटिकल एसोसिएशन की स्थापना हुई। 1909 से ही फ्रॉयड के लेखन के बारे में ब्रिल द्वारा किये गये अंग्रेज़ी अनुवाद सामने आने लगे। जब न्यूरोसिस (तंत्रिका रोग) जैसे विषय पर एडलर के विचार फ्रॉयड से बहुत अलग होने लगे तो एडलर ने फ्रॉयड के गुट से अलग होकर 1911 में

सासाइटी फ़ॉर इण्डिविजुअल सासाइटी की स्थापना की और इन्हें वैयक्तिक मनोविज्ञान (इन्डिविजुअल साइकोलॉजी) का पुरोधा माना गया। 1912 से युंग का रास्ता भी फ़ॉयड से अलग हो गया और उन्होंने फ़ॉयड के मनोविश्लेषण से अलग विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (एनालिटिकल साइकोलॉजी) की नींव डाली।

बौद्धिक जगत में फ़ॉयड के जीनियस पर कभी किसी ने संदेह नहीं किया। उनके सूत्रीकरणों और सिद्धांतों के महत्त्व पर भी उँगली नहीं उठायी गयी। लेकिन, उनकी उपलब्धियों की प्रकृति विवादग्रस्त रही है। दिलचस्प बात यह है कि फ़ॉयड की सबसे मुखर आलोचना स्त्रीवादियों की तरफ़ से हुई। उन्होंने मनोविश्लेषण के पितामह पर पितृसत्तात्मक होने का आरोप लगाया जो पहली नज़र में सही जान पड़ता है। लेकिन दूसरी तरफ़ यह भी एक तथ्य है कि फ़ॉयड की कृतियों से सुराग ले कर कई नारीवादियों ने अपने विमर्श को और समृद्ध किया। नारीवादियों के अलावा अस्तित्ववादी आलोचकों ने भी कहा कि फ़ॉयड की पूरी विचार-पद्धति में पुरुष-केंद्रीयता अंतर्निहित है। उन्होंने मानवीय अस्तित्व के प्रश्न सेक्सुअलिटी के इर्द-गिर्द बुने पर उसके सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों को अधिक गहराई से नहीं देख पाये। फ़ॉयड की आलोचना में यह भी कहा गया उनकी बातों में अति-व्याख्या (ओवरसाइट) होने के साथ-साथ तमाम दावों के बावजूद वैज्ञानिक अन्विति का अभाव है।

देखें : मनोविज्ञान-1 और 2, सामाजिक मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, कार्ल गुस्ताव युंग, ज़ाक लकाँ, एरिक फ़्रॉम, एरिक एरिकसन, चेतना, इयत्ता, मनोविश्लेषण और नारीवाद।

संदर्भ

1. ई. जॉस (1953-1957), *ज़िग्मण्ड फ़ॉयड : लाइफ़ ऐंड वर्क्स* (तीन खण्ड), बेसिक बुक्स. लंदन.
2. एस. फ़्रॉश (1987), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ साइकोएनालिसिस : ऐन इंटीडक्शन टू फ़ॉयडियन ऐंड पोस्ट-फ़ॉयडियन थियरी*, येल यूनिवर्सिटी प्रेस. कनेक्टिकट.

— राकेश श्रीवास्तव

जीवन-शैली

(Life-style)

जीवन-शैली का सहज अर्थ उन तौर-तरीकों से लिया जाता है जिनके तहत लोग समाज में उपलब्ध सेवाओं तथा वस्तुओं का उपयोग अपनी ज़िंदगी गुज़ारने के लिए करते हैं। गाँव तथा शहरों के बीच जीवन-शैली से संबंधित अंतर मुख्यतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में रेखांकित किया जाता है। जीवन-शैली व्यक्ति की समाज में अवस्थिति को भी दर्शाती है, और उसके आईने में उसकी वर्गीय स्थिति को भी देखा जा सकता है। लेकिन, व्यक्तिगत धरातल पर जीवन-शैली का व्यापक तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष द्वारा शेष विश्व को देखने के उसके दृष्टिकोण तथा उससे संबंधित मूल्यों से भी लगाया जाता है। जीवन-शैली का एक अन्य अर्थ स्वयं की खोज और उसके मुताबिक सांस्कृतिक लक्षण पैदा करना भी होता है ताकि व्यक्तिगत स्तर पर अस्मिता की स्थापना की जा सके। अधिकांशतः असमानता जैसे विषयों के अध्ययन में जीवन-शैली की अवधारणा का प्रयोग होता है। विद्वानों की मान्यता है कि आपेक्षिक तौर पर जीवन-शैली का प्रारूप स्थायी होता है जिसका संबंध दिन-प्रति-दिन की जीवन-स्थितियों और उपलब्ध संसाधनों का उपभोग करने से जुड़ा होता है।

साठ और सत्तर के दशक में ब्रिटिश समाजशास्त्र ने सामाजिक स्तरीकरण के अंतर्गत सामाजिक समूहों, सामाजिक संबंधों के प्रारूपों, वस्तुओं की खपत तथा संस्कृति के अंतर को जीवन-शैली के तौर पर देखा था। मार्क्सवाद के अनुसार जीवन-शैली के ये प्रकार व्यक्ति के बूर्ज्वाकरण होने के दौरान और बाद में अपनाये जाते हैं। आय में बढ़ोतरी होने से व्यक्ति जीवन-शैली के मानकों पर वर्गांतरण करता हुआ दिख सकता है। निम्नवर्ग से मध्यमवर्ग में जाने की प्रक्रिया जीवन-शैली के स्तर पर घटित होती है। अमेरिकन समाजशास्त्र में जीवन-शैली की अवधारणा को ग्रामीण तथा नगरीय, नगरीय तथा उपनगरीय जैसे सामाजिक जीवन के प्रकारों के तौर पर विभाजित किया गया है। जॉर्ज ज़िमेल तथा लुईस वर्थ ने इस प्रकार की जीवन-शैली का अध्ययन करके प्रतिपादित किया कि नगरों में रहना भी एक प्रकार की जीवन-शैली का अंग है। इसे नगरीयता कहा जाता है। इसके अलावा नगरीय जीवन-शैली के दायरे में विभिन्न प्रकार के लोगों, जैसे युवा, बेरोज़गार, विचलित मानसिकता वाले व्यक्तियों आदि की अपनी अलग जीवन-शैली होती है। साधारणतः इस प्रकार की जीवन-शैली में मूल्यों तथा खपत के आधार पर जीवन जीने के तरीके का निर्धारण किया जाता है जिसे उन्नत पूँजीवादी

समाज के बढ़ते हुए मानकों के तौर पर समझा जा सकता है। व्यक्ति के जीवन में इसके आधार पर पड़ने वाले अंतरों के कुछ पहलुओं को काफ़ी पहले मैक्स वेबर ने प्रस्थिति समूहों की अवधारणा में विश्लेषित किया था। इसे सामाजिक-आर्थिक वर्ग-विभेद के सिद्धांत के तौर पर देखा जा सकता है। इसी तरह यह भी पाया गया है कि कुछ हद तक वर्ग के आधार पर भी जीवन-शैली का निर्धारण होता है। अध्ययन का यह तरीका मैक्स वेबर, जॉर्ज जिमेल तथा थोर्स्टाइन वेबलन द्वारा किये गये जीवन-शैली संबंधी अध्ययन को ही आगे बढ़ाता है। इन विद्वानों ने जीवन-शैली की अवधारणा में सामाजिक वर्ग तथा सामाजिक क्रिया के बीच संबंध स्थापित किया और यह बताया कि लोग किस तरह छुट्टियाँ मनाते हैं और उस दौरान अपनी आय से अधिक व्यय करते हैं।

जीवन-शैली दो प्रकार के वातावरण में संचालित होती है यथा प्राकृतिक तथा सामाजिक। अपने घरों के पीछे खुले स्थान पर फूलों, सब्जियों या अन्य प्रकार के पेड़-पौधे लगाने वाले प्रकृति के अधिक से अधिक निकट रहने की जीवन-शैली अपनाने वाले माने जाते हैं। वहीं सामाजिक वातावरण की जीवन-शैली में व्यक्ति के जीवन जीने तथा कार्यस्थल की स्थितियों, आय का स्तर, शैक्षणिक योग्यता, सामुदायिक तथा धार्मिक विश्वास आदि को शामिल किया जाता है। सामाजिक वातावरण के अंतर्गत किसी व्यक्ति से तथा उसके आस-पास के लोगों से कुछ निश्चित अपेक्षाएँ होती हैं। यहाँ अपेक्षाओं से तात्पर्य है सफलता तथा बेहतर परिणाम देने की इच्छा। सफलता के साथ कुछ परेशानियाँ भी जुड़ी होती हैं। विफलता व्यक्ति को खिन्न बना देती है। इस तरह की कोई घटना न होने देने और व्यक्ति को विफलता तथा निराशा से बचाने के उद्देश्य से भी जीवन-शैली को नियोजित किया जाता है।

जीवन-शैली के सभी पहलू स्वैच्छिक नहीं होते। व्यक्ति के आस-पास का सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण जीवन-शैली को काफ़ी प्रभावित करता है। इन कारकों के आधार पर ही व्यक्ति किसी अन्य के सम्मुख अपनी पहचान प्रदर्शित करता है। किसी की व्यक्तिगत पहचान तथा उसके दिन-प्रति-दिन सम्पादित किये जाने वाले कार्य के बीच एक बारीक रेखा होती है जिसके उसकी विशेष जीवन-शैली का इशारा मिलता है। आधुनिकता और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने जीवन-शैली के निर्माण की आधारशिला खाद्य पदार्थों की खपत के तौर पर निरूपित की है। यह खपत जीवन में विभिन्न अवसरों को पैदा करती है और पुनः व्यक्तिगत स्तर पर विभिन्न उत्पादों या सेवाओं के उपयोग के लिए जीवन के विभिन्न तरीकों का निर्माण करती है। संचार माध्यमों तथा पत्र-पत्रिकाओं ने भी जीवन-शैली को कई स्तरों पर प्रभावित किया है।

प्रौद्योगिकी जीवन-शैली को बड़ी हद तक परिवर्तित करती है। प्रौद्योगिकी का असर हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। शुरू में प्रौद्योगिकी के कारण कृषि, उत्पादन, युद्ध, यातायात, सूचना, चिकित्सा, संचार जैसे क्षेत्रों में ही परिवर्तन दृष्टिगत होते थे, लेकिन आजकल जीवन का हर क्षेत्र इससे प्रभावित हो रहा है। एक तरफ़ प्रौद्योगिकी ने जीवन-शैली को आरामदेह बनाया है, और दूसरी तरफ़ इसका असर हमारे स्वास्थ्य पर नकारात्मक पड़ा है। प्रौद्योगिकी का अंधाधुंध उपयोग जहाँ पर्यावरण को प्रदूषित कर रहा है, वहीं यह लोगों की जीवन-शैली पर नकारात्मक असर भी डाल रहे हैं। इसे नगरीय और ग्रामीण जीवन-शैली के बीच अंतर के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है। मीडिया द्वारा परोसी गयी छवियाँ और थमायी गयी सूचनाएँ जीवन-शैली को न केवल फ़ौरी तौर पर प्रभावित करती हैं, बल्कि धीरे-धीरे वे मानस का अंग बन जाती हैं और जीवन में उनकी स्थायी अभिव्यक्तियाँ देखी जा सकती हैं।

वैकल्पिक जीवन-शैली की अवधारणा मुख्यतः सांस्कृतिक नियमों के बाहर परिभाषित है। प्रायः यह किसी न किसी उप-संस्कृति (जैसे हिप्पी) से संबंधित होती है। कुछ लोगों की वैकल्पिक जीवन-शैली में विभिन्न उपसंस्कृतियों के तत्त्व शामिल होते हैं। वैकल्पिक जीवन-शैली का उद्गम बीस के दशक के फ़्लैपर आंदोलन से मना जा सकता है जब महिलाओं ने अपने बालों को कटवाया और छोटे प्रकार के स्कर्ट पहनने की शुरुआत की थी। इसी के बाद से स्त्रियों के विवाह पूर्व संबंधों और नृत्य आदि का चलन होने लगा। आधुनिकीकरण के अधिक बोलबाले वाले पश्चिमी देशों में यह नयी फ़्लैपर जीवन-शैली अधिक लोकप्रिय हुई है। आवश्यक नहीं है कि सभी वैकल्पिक जीवन-शैली स्थायी जीवन-शैली में परिवर्तित हो जाएँ। यह उस समाज के सांस्कृतिक परिवेश पर निर्भर करता है कि किसी वैकल्पिक जीवन-शैली को वह पूरी तरह से अपना ले या आंशिक रूप से अपनाये। भूमण्डलीकरण के दौर में जब विश्व-ग्राम की अवधारणा पर विचार किया जा रहा है, तो मानवीय भविष्य कई प्रकार की जीवन-शैली के सम्मिश्रण की सम्भावना से ओतप्रोत लगने लगा है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, जादू, टेलरवाद, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. निकोलस एबरक्रोम्बिक, स्टीफ़न हिल और ब्रेयान एस. टर्नर (1994), *डिक्शनरी ऑफ़ सोसियोलॉजी*, पेंगुइन बुक्स, लंदन।
2. जे. कासकेला आइनो, ए. लहटी, एल. सारीकोसकी, एन. सुविनेन और ए. स्टोगार्ड (2009), 'फ़्यूचर ऑफ़ लिविंग', व. नियोवो

तथा स. यलोनिन (सम्पा.), *बिट बैंग— रेस टू द फ्यूचर*, हेलसिंकी विश्वविद्यालय, फ़िनलैण्ड.

3. बोगेनहोल्ड डायटर (2001): 'सोशल इनईक्वालिटी ऐंड द सोसियोलॉजी ऑफ़ लाइफ़ स्टाइल : मैटेरियल ऐंड कल्चरल ऑसपेक्ट ऑफ़ स्ट्रैटिफ़िकेशन', *अमेरिकन जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स ऐंड सोसियोलॉजी*, खण्ड 60, अंक 4.
4. मार्शल गॉर्डन (सम्पा.) (1994), *द कन्साइज़ ऑक्सफ़र्ड डिक्शनरी ऑफ़ सोसियोलॉजी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

—मनीष मिश्रा

जेरेमी बेंथम

(Jeremy Bentham)

ब्रिटिश उपयोगितावादी दार्शनिक, न्यायविद् और सुधारक जेरेमी बेंथम (1748-1832) का आधुनिक राजनीतिक चिंतन के विकास में बेहद महत्वपूर्ण स्थान है। उनके लेखन को दर्शन, सरकार, क़ानून, समाजिक प्रशासन और अर्थशास्त्र के क्षेत्रों में बहुत ऊँचा दर्जा प्राप्त है। बेंथम की अपरिहार्यता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके बाद के विचारकों में बहुत कम लोग उनके सिद्धांतों और तर्कों को नज़रअंदाज़ कर पाने में सफल हुए हैं। उन्होंने अपनी अध्ययन-प्रणाली में तार्किक विश्लेषण की व्यवस्थित शुरुआत की। सम्भवतः अरस्तू के बाद वे सबसे पहले चिंतक थे जिन्होंने अधिकतम विस्तार से अध्ययन करने पर जोर दिया और विषयों के अध्ययन के तरीके में बदलाव करने में सफल भी रहे। उन्होंने अपने विचारों को व्यवहार के धरातल पर भी परखा। उन्होंने न सिर्फ़ बहुत सी परियोजनाओं में अपने विचारों को लागू करने की कोशिश की, बल्कि बेहद रैडिकल सुधारों की भी वकालत की। उनके सूत्रीकरणों ने दार्शनिक रैडिकलिज़म के आधार का काम किया। इस बात से शायद ही कोई इनकार करेगा कि विक्टोरियन दौर में हुए सुधारों पर बेंथम के विचारों की छाप थी। बेंथम ने पनोप्टिकॉन योजना के माध्यम से कारागार का एक मॉडल भी पेश किया। बेंथम के पिता ने बचपन में ही उनकी प्रतिभा को पहचान कर उन्हें सात वर्ष की उम्र में ही उन्हें वेस्टमिनस्टर स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया था। 12 साल की उम्र में वे क्वींस कॉलेज, ऑक्सफ़र्ड में पहुँच गये। पिता उन्हें वकील बनाना चाहते थे इसलिए उनका बार में नामांकन भी करा दिया गया। लेकिन बेंथम ने वकालत न करके अपने पिता के सपनों को चूर-चूर कर दिया।

बेंथम ने जिस उपयोगितावादी दर्शन की स्थापना की उसे क्लासिकल उपयोगितावाद भी कहा जाता है। इस दर्शन को उसके तीन मुख्य पहलुओं की रोशनी में समझा जा सकता है। पहला, थॉमस हॉब्स की ही तरह बेंथम भी मनुष्य की इस मनोवैज्ञानिक इच्छा को अहमियत देते थे जिसके तहत हर व्यक्ति अपने आनंद को अधिकतम उपलब्ध करना चाहता है। बेंथम आनंद और खुशी जैसे शब्दों को एक-दूसरे के पर्याय की तरह इस्तेमाल करते थे। दूसरा, बेंथम के लिए आनंद अपने आप में एक लक्ष्य था न कि कुछ और पाने का साधन। वे तरह-तरह के सुखों में अंतर करने के लिए तैयार नहीं थे। न ही उनका विचार ऊँचे और नीचे सुख में फ़र्क़ करता था। उनकी दिलचस्पी सुख की गुणवत्ता में नहीं बल्कि मात्रा में थी। तीसरा, चूँकि आनंद प्राप्त करने योग्य है इसलिए वह क्रिया सही है जो आनंद उपलब्ध कराती हो और दुःख या कष्ट को कम से कम करती हो। इस तीसरे आयाम में बेंथम का उपयोगितावाद एक क्रियात्मक उसूल के रूप में सामने आता है।

इन व्यावहारिक सुधारों के अलावा बेंथम की मुख्य सफलता यह थी कि वे दार्शनिक और राजनीतिक विचारों की कल्पना करने और उन्हें व्यक्त करने के तरीके में बदलाव लाने में सफल हुए। अभी हाल तक बेंथम के योगदान को दूसरे माध्यमों से पढ़ा जाता रहा है : जॉन ऑस्टिन के माध्यम से न्याय-शास्त्र के दायरे में, जेम्स मिल के माध्यम से लोकतांत्रिक सिद्धांत में और जॉन स्टुअर्ट मिल के माध्यम से उपयोगितावादी सिद्धांत में। इस प्रवृत्ति का एक कारण यह भी रहा है कि बेंथम की अपनी शैली बहुत ही मुश्किल रही है, जिसके कारण उनके चिंतन के प्रति समर्पित विद्वानों के अलावा हर कोई उनसे दूर ही रहता रहा है। यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उन्होंने शायद ही अपने किसी लेख को प्रकाशन के मक़सद से तैयार किया हो।

बेंथम ने अपने राजनीतिक चिंतन द्वारा उदारतावाद के विकास में तीन मुख्य योगदान दिये। पहला, उन्होंने लॉक, ह्यूम, मांटेस्व्यू और हेल्वेसियस से मिले विचारों का उपयोग प्रचलित लॉकवादी विचार पर हमला करने के लिए किया। बेंथम के बाद उदारतावादी चिंतन की सबसे जीवंत धारा उपयोगितावादी सिद्धांतों पर आधारित रही। दूसरा, 1820 के दशक में उन्होंने संवैधानिक सिद्धांत का एक नया दृष्टिकोण उपलब्ध कराया। इसने अमेरिकी और फ़्रांसीसी क्रांतियों के समय के संवैधानिक चिंतन और व्यवहार को बढ़ावा दिया। बेंथम ने प्रशासनिक और न्यायिक संगठन और सत्ता के जवाबदेह प्रयोग पर भी नये सिरे से जोर दिया। तीसरा, बेंथम ने कल्पना की कि क़ानून के लक्ष्यों में सुरक्षा, जीविका, पर्याप्तता और समानता शामिल होनी चाहिए। उन्होंने ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की जो इन लक्ष्यों को बढ़ावा

दे। ऐसा करके बेंथम ने आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य की ज़रूरत और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त किया।

अट्टारहवीं सदी में सत्तर के दशक के मध्य तक बेंथम दो मुख्य योजनाओं पर काम कर रहे थे। उनकी पहली प्राथमिकता थी दण्ड-विधि, खासतौर पर अपराध और सज़ा का विश्लेषण करना। इस अध्ययन के फलस्वरूप उनकी सबसे प्रसिद्ध किताब *ऐन इंट्रोडक्शन टू द प्रिंसिपल्स ऑफ़ मॉरल्स ऐंड लेजिस्लेशन* (1780 में मुद्रित पर 1789 में प्रकाशित) सामने आयी। इस किताब का मकसद एक व्यापक दण्ड संहिता की पेशकश करना था। इसी रचना की कड़ियों के रूप में उन्होंने दो अन्य किताबें भी लिखीं : *ऑन द लॉज़ इन जनरल* जो पहली बार 1945 में *द लिमिट्स ऑफ़ जुरिसप्रूडेंस डिफ़ाइंड* शीर्षक से प्रकाशित हुई; और दूसरी *इनडायरेक्ट लेजिस्लेशन* जिसे सबसे पहले 1802 में प्रकाशित किया गया। ये तीनों किताबें बेंथम के शुरुआती न्याय-विमर्श के मुख्य भाग का प्रतिनिधित्व करती हैं।



जेरेमी बेंथम (1748-1832)

बेंथम ने अपने दूसरे प्रोजेक्ट में ब्लैकस्टोन की रचना *कॉमेंटरीज ऑन द लॉज़ ऑफ़ इंग्लैण्ड* की विशद समीक्षा की। इसका प्रकाशन पहली बार 1928 में जा कर हो पाया। लेकिन अपने इस शोध से पहले उन्होंने अपनी पहली प्रमुख कृति *द फ़्रेग्मेंट ऑन गवर्नमेंट* (1776) प्रकाशित की। इस किताब में ब्लैकस्टोन के संविधान संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण किया गया है। ब्लैकस्टोन ने लॉक के विचारों का अनुसरण करते हुए प्रकृत अवस्था, सामाजिक समझौता, सहमति, प्रभुसत्ता और मिश्रित संविधान जैसे लॉकवादी पदों का प्रयोग करते हुए इंग्लैण्ड के संविधान की समीक्षा की थी। यद्यपि बेंथम ने ब्लैकस्टोन के विचारों का कोई विकल्प पेश नहीं किया, लेकिन उन्होंने लॉकवादी अवधारणाओं की आलोचना की जिन्हें उन दिनों व्यापक स्वीकृति मिल चुकी थी। इन मुद्दों के अलावा उन्होंने आर्थिक प्रश्नों पर भी विचार करना शुरू किया। इस विषय पर उन्होंने सबसे पहले *डिफेंस ऑफ़ यूज़री* (1787) की रचना की। इसमें ऐडम स्मिथ द्वारा *वेल्थ ऑफ़ नेशंस* में सूदखोरी की विवेचना की गयी थी।

फ्रांसीसी क्रांति के दौर में बेंथम एक उदार छवि के विचारक की तरह स्थापित होने लगे थे। लॉर्ड लैंसडाउन से अपनी दोस्ती के कारण उन्होंने स्विस लेखक और सुधारक एटीनी दूमो से सम्पर्क किया और बाद में दोनों की बहुत

गहरी दोस्ती भी हो गयी। दूमो ने बेंथम की कई किताबों का फ्रांसीसी में अनुवाद किया जिससे बेंथम को विश्व-प्रसिद्धि मिली। बेंथम ने फ्रांस की लोकतांत्रिक संस्थाओं के समर्थन में कई लेख लिखे। उन्होंने फ्रांस की न्यायिक व्यवस्था में सुधार प्रस्तावित करने वाली एक पुस्तक *ड्रॉफ़्ट ऑफ़ अ न्यू प्लान फ़ॉर द ऑर्गनाइज़ेशन ऑफ़ द जुडिशियल इस्टैब्लिशमेंट ऑफ़ फ्रांस* भी रची जिसके कारण 1792 में उन्हें फ्रांस की मानद नागरिकता दी गयी। बेंथम भी शुरुआत में फ्रांसीसी क्रांति से हमदर्दी रखते थे, लेकिन बाद इसकी हिंसक और दमनकारी प्रवृत्ति को देख कर उनका इससे मोहभंग हो गया। उन्होंने डिक्लैरेशन ऑफ़ राइट्स (या अधिकारों के घोषणा-पत्र) में निहित अवधारणाओं का भी विरोध भी किया। उन्होंने अपनी रचना *अनार्कीकल फ़ैलेसीज़* में यह लिखा कि प्राकृतिक अधिकार की परिकल्पना पूरी तरह से बकवास है। बेंथम मानते थे कि स्वतंत्रता केवल वहीं सुरक्षित रह सकती है जहाँ अधिकारों को कानूनी व्यवस्था द्वारा स्थापित किया गया हो।

1809-10 के दौरान बेंथम के विचारों में 'बदलाव' हुआ। उन्होंने 1817 में *प्लान फ़ॉर पार्लियामेंटरी रिफ़ॉर्म* के प्रकाशन के बाद सार्वभौम मताधिकार, गुप्त मतदान और वार्षिक संसद जैसे सुधारों के बारे में खुल कर चर्चा करनी शुरू की। 1809 के पहले बेंथम ने सिर्फ़ फ्रांसीसी क्रांति से संबंधित कुछ राजनीतिक और संवैधानिक मुद्दों पर विचार किया था। इसके अलावा अमूमन वे इन विषयों पर उदासीन रहते थे। लेकिन ऐसा लगता है कि जेम्स मिल के प्रभाव और रूँ सुधारों से संबंधित अपनी पनोप्टिकॉन सरीखी कल्पना की नाकामी से उनका यह विश्वास पुख्ता हुआ कि विभिन्न सुधारों के बीच एक तरह का संबंध बनाने की ज़रूरत है। इसके अलावा स्पेन में दारवादी शासन की स्थापना ने भी उनके राजनीतिक चिंतन में बुनियादी बदलाव किये। इस बदलाव का नतीजा *कांस्टीट्यूशनल कोड* (1822-) के रूप में सामने आया जिसे वे पूरा नहीं कर पाये। अपनी इस कृति में उन्होंने विस्तार से संवैधानिक लोकतंत्र की अपनी यूटोपियन दृष्टि और वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं की तीखी समीक्षा पेश की। इसके बावजूद कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि वे संवैधानिक या राजनीतिक मुद्दों में ही पूरी तरह से डूबे रहे हों। इस दौर में उन्होंने शिक्षा, तर्कशास्त्र, भाषा, साहित्यशास्त्र, अर्थव्यवस्था जैसे विविध विषयों पर भी अपने विचार व्यक्त किये।

1820 के दशक तक उनकी कई किताबें प्रकाशित हो चुकी थीं। दूमो के सम्पादन में उनकी कई किताबें फ्रेंच में भी छप चुकी थीं। इन सबने यूरोप, ब्रिटेन और लातीनी अमेरिका में उनकी प्रतिष्ठा स्थापित कर दी। बेंथम का बहुत से लोगों से पत्र-व्यवहार होता था। कई राजनीतिज्ञ और विद्वान क्वींस स्ववायर प्लेस स्थित उनके घर आते-जाते रहते थे। बेंथम के बहुत से लेखन को दूसरों ने सम्पादित किया : जॉन स्टुअर्ट मिल ने *रैशनेल ऑफ़ ज्यूडिशियल एविडेंस* (1827), पेरेग्रीन बिंघम ने *बुक ऑफ़ फ़ैलेसीज* (1824), फ्रेंसीस प्लेस ने *नॉट पॉल बट जीसस* (1823) और जार्ज ग्रेट ने एनालिसिस ऑफ़ द इंप्लूएंस ऑफ़ नेचुरल रिलीजन (1822) का सम्पादन किया था। इन रचनाओं ने *एडिनबरा रिव्यू* द्वारा प्रतिपादित किये गये विग सिद्धांतों के विकल्प के रूप में दार्शनिक रैडिकलवाद की स्थापना की। 1820 के दशक में उन्होंने मुख्य रूप से कानून की पूर्ण संहिता तैयार करने में अपनी अधिकांश ऊर्जा लगायी। इसमें नागरिक, दण्डात्मक, प्रक्रियात्मक और संवैधानिक संहिताओं को शामिल किया जाना था। कानून को संहिताबद्ध करने की पहले की कोशिशों के बजाय इस बार कांस्टीट्यूशनल कोड (संवैधानिक संहिता) को मुख्य स्थान दिया गया। इसी मकाम पर बेंथम के प्रौढ़ राजनीतिक चिंतन का विकास हुआ। यह काम दार्शनिक से ज्यादा कानूनी था, लेकिन स्वतंत्रता समानता, अधिकार, दायित्व और प्रभुसत्ता जैसे विषयों पर इस समय उनके द्वारा लिखी कई दूसरी रचनाओं से गहन अंतर्दृष्टियाँ हासिल की जा सकती हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रीड्रिख हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाट, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत.

संदर्भ

1. आर. हैरिसन (1983), *बेंथम*, लंदन : रॉटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन.
2. एच.एल.ए. हार्ट (1982), *एसेज़ ऑन बेंथम*, *जुरिसप्रुडेंस ऐंड पॉलिटिकल थियरी*, क्लेरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. एफ़. रोज़ेन (1983), *जेरेमी बेंथम ऐंड रिप्रेजेंटेटिव डेमोक्रेसी : अ स्टडी ऑफ़ कांस्टीट्यूशनल कोड*, क्लेरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— कमल नयन चौबे

जेंडर

(Gender)

नारीवाद द्वारा सत्तर के दशक में प्रवर्तित जेंडर की अवधारणा इस निष्कर्ष पर आधारित है कि स्त्री-पुरुष की सामाजिक असमानता का कारण केवल उनकी जैविक भिन्नता में ही नहीं देखा जाना चाहिए। इसीलिए नारीवाद सेक्स और जेंडर को अलग-अलग करके समझता है। उसकी मान्यता है कि जैविक भिन्नता के दैहिक और मानसिक प्रभावों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करना एक हथकण्डा है जिसके सहारे पितृसत्ता क्रायम रखी जाती है और स्त्रियों को समझा दिया जाता है कि उन्हें प्रकृति ने घरेलू भूमिकाओं के लिए ही बनाया है। उत्तर-औद्योगिक समाजों में तो स्त्री की सेक्स संबंधी दैहिक भिन्नता के फलितार्थ और भी कम प्रभावी रह गये हैं। गर्भ-निरोधकों, दर्द-निवारक औषधियों के कारण प्रजनन में होने वाली तकलीफ़ के लगातार घटते जाने और प्रजनन क्षमता खत्म हो जाने के बावजूद एक लम्बी और व्यक्तिगत-सामाजिक रूप से उपयोगी जिंदगी गुज़ारने की परिघटना ने स्त्री की परिस्थिति को पूरी तरह से बदल दिया है। 1972 में प्रकाशित एन. ओकली की विख्यात रचना *सेक्स, जेंडर ऐंड सोसाइटी* ने नारीवाद के लिए जेंडर को एक सामाजिक गढ़त के तौर पर देखने की बौद्धिक शुरुआत की। सिमोन द बोउवार ने 1949 में ही 'स्त्री जन्म नहीं लेती, बल्कि बनती या बना दी जाती है' की स्थापना देकर जेंडर के सिद्धांतीकरण की पूर्वपीठिका तैयार कर दी थी। यह बात अलग है कि स्त्री या पुरुष के 'सामाजिक' आयाम को 'जैविक' आयाम से अलग दिखाने के लिए उन्होंने जेंडर जैसे पद का प्रयोग नहीं किया था।

जेंडर का विचार नारीवाद की दूसरी लहर के केंद्र था। दरअसल, इस प्रश्न पर नारीवादी विदुषियों ने काफ़ी बारीक और बहुआयामी चिंतन किया है। सुलामिथ फ़ायस्टोन ने ओकली से भी दो साल पहले प्रकाशित अपनी पुस्तक *डायलेक्टिक ऑफ़ सेक्स* में दावा था कि स्त्री को अगर आधुनिक प्रौद्योगिकी की मदद से प्रजनन की जिम्मेदारी से छुटकारा मिल जाए और बच्चों के लालन-पालन का दायित्व ऐसे कम्प्यूनों को सौंप दिया जाए जहाँ एकनिष्ठ विवाह और छोटे परिवार के मानक का पालन न किया जाता हो, तो स्त्री-मुक्ति का रास्ता खुल सकता है। फ़ायरस्टोन के विचारों की आलोचना संस्कृति पर जोर देने वाले नारीवादियों ने इस आधार पर की कि स्त्री-पुरुष की भिन्नता एक ऐसी मूल्यवत्ता को जन्म देती है जिसके तहत स्त्री के लिए बच्चों का लालन-पालन और परिवार की देखभाल करना एक विशिष्ट

सांस्कृतिक गुण का रूप ले लेता है जिसे खारिज करने के बजाय सराहनापूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिए। आगे चल कर मोरिया गैटेंस ने कुछ जीव-वैज्ञानिक अनुसंधानों के हवाले से यह दिखाया कि पुरुष और स्त्री की भिन्न-भिन्न जैविकताएँ दोनों की चेतना पर अलग-अलग असर भी डालती हैं। स्त्री की देह में कुछ ऐसी घटनाएँ और प्रक्रियाएँ चलती हैं जो पुरुष-देह के साथ कभी घटित होती ही नहीं : जैसे मासिक धर्म। इसलिए जेंडर की संरचना को पूरी तरह जैविकता से मुक्त भी नहीं माना जा सकता।

दरअसल, जेंडर की सामाजिक गढ़त और जैविक तात्त्विकतावाद के बीच बहस से नारीवादी शास्त्र भरा पड़ा है। स्त्री-पराधीनता को जैविक तात्त्विकतावाद के तार्किक घेरे से बाहर निकालने के लिए ही सत्तर के दशक के आरम्भ में दूसरी लहर के नारीवादियों ने जैविक भिन्नता के लिए सेक्स का और सामाजिक भिन्नता के लिए जेंडर का प्रयोग करना शुरू किया। उससे पहले जेंडर का प्रयोग संज्ञा-शब्दों को पुरुषवाचक और स्त्रीवाचक कोटियों में वर्गीकृत करने के लिए होता था। नारीवादियों ने जेंडर का प्रयोग यह ज़ाहिर करने के लिए अपनाया कि जिस तरह शब्दों का पुरुष और स्त्री की कोटियों में बाँटा जाना सामाजिक चलन का परिणाम है, उसी तरह व्यवहारों, मूल्यों आदि का पुरुष और स्त्री के लिए अलग-अलग आबंटन भी सामाजिक चलन का परिणाम है। गौरतलब है कि इस आशय के साथ जेंडर का प्रयोग चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में रॉबर्ट स्टॉलर नामक मनोविज्ञानी द्वारा अस्पष्ट जननांगों के साथ जन्मे शिशु के संदर्भ में पहले से किया जा चुका था। एन. ओकली ने स्टॉलर से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। 1975 में गेल रूबिन अपने क्लासिक आलेख में सेक्स (जैविक) को प्राकृतिक और इसलिए अपरिवर्तनीय और जेंडर (सामाजिक) और इसलिए परिवर्तनीय के रूप में व्याख्यायित करते हुए 'सेक्स-जेंडर व्यवस्था' की धारणा प्रस्तुत की। इस प्रकार नारीवादियों के बीच इस धारणा ने जोर पकड़ा कि जिस जैविक संरचना के साथ हम जन्म लेते हैं वह प्राकृतिक होने के कारण समाज और संस्कृति से निरपेक्ष है। यह वह आधार है जिस पर विभिन्न संस्कृतियाँ स्त्रीत्व और पुरुषत्व के जेंडर-ढाँचे खड़े करती हैं। लिंडा निकालसन ने इस धारणा को 'जैविक आधारवाद' कहा है।

अस्सी के दशक के शुरू होते-होते कुछ नारीवादियों ने 'जैविक आधारवाद' पर सवाल उठाने शुरू कर दिये। सेक्स अथवा शरीर को जेंडर से पृथक और अपरिवर्तनीय मान कर चलना उन्हें दिक्कततलब लगा। एलिसन जैगर के मुताबिक शरीर संबंधी सामाजिक मान्यताएँ बदलती हैं तो शरीर की संरचना में भी उसी के मुताबिक बदलाव आते हैं। मसलन, स्त्रियों के शरीरिक तौर पर ताकतवर होने को सामाजिक स्वीकृति मिलनी शुरू हुई, तो उनके एथलेटिक रिकॉर्डों में भी

बढ़ोतरी होने लगी। नारीवादी मानवशास्त्रियों ने भी कुछ नृजातीय समूहों में स्त्री और पुरुषों की देह-रचना के बीच बेहद मामूली भेद पाया है। इसके अलावा, कई नारीवादी इस राय के साथ सामने आयीं कि सभी भिन्नताएँ, भले ही वे जैविक या प्राकृतिक ही क्यों न हों, किसी-न-किसी सैद्धांतिक नज़रिये की ही उपज होती हैं। इसकी पुष्टि थॉमस लैकर जैसे इतिहासकार के अनुसंधान ने भी की। लैकर ने यह दिखाया है कि स्त्री और पुरुष के शरीरों का दो भिन्न प्रकारों में वर्गीकरण 18 वीं सदी की परिघटना है। उससे पहले स्त्री का शरीर पुरुष के शरीर का अल्पविकसित रूप माना जाता था। सेक्सुअलिटी के इतिहास पर कार्य करने वाले मिशेल फूको ने 18 वीं सदी के दौरान उभयलैंगिकता की धारणा के परिदृश्य से ही गायब होने की चर्चा की है। प्राक-आधुनिक भारतीय संस्कृति में भी विभिन्न यौन पहचानों के लिए कहीं ज़्यादा गुंजाइशें मौजूद रही हैं। उस ज़माने में हिजड़ों को जो सामाजिक स्वीकार्यता प्राप्त थी वह समकालीन समाज में नहीं है। सूफ़ी और भक्ति परम्पराएँ उभयलैंगिकता पर आधारित मानी जाती हैं।

जुडिथ बटलर का जेंडर संबंधी चिंतन बेहद चर्चित और परिष्कृत माना जाता है। बटलर ने जेंडर की भाँति सेक्स यानी देह को सामाजिक निर्मिति ही माना है। वे कहती हैं कि जेंडर की समझ से ही शरीर की समझ निर्धारित होती है। कुछ ऐसी भी नारीवादी चिंतक भी हैं जो सेक्स-जेंडर विभेद को स्त्री-मुक्ति के लिहाज़ से नकारात्मक मानती हैं। उनका मानना है कि यह विभेद मन/शरीर, संस्कृति/प्रकृति और तर्क/भावना जैसे द्विभाजनों जैसा ही प्रतीत होता है। इन्हीं द्विभाजनों का दोहन स्त्री-पराधीनता के लिए किया गया है। इन परस्पर-विरोधी जोड़ियों में एक का श्रेष्ठ तथा दूसरे का हीन के रूप में मूल्यांकन कर हीन को स्त्री के साथ चस्पॉ किया जाता रहा है। सेक्स/जेंडर का द्विभाजन ख़ासकर शरीर/मन के नज़दीक ठहरता है। निर्मिति होने के कारण जेंडर मन के दायरे में आ जाता है, और सेक्स तो शरीर के लिए ही प्रयुक्त होता ही है। शरीर/मन द्विभाजन में शरीर पक्ष के साथ स्त्री और मन के पक्ष के साथ पुरुष का तादात्म्य बैठाया जाता रहा है। नतीजतन, सेक्स/जेंडर में सेक्स स्त्री के हिस्से में चला जाता है, और जेंडर पुरुष के हिस्से में। यही वजह है ये नारीवादी इस विभेद को न केवल अनुपयोगी बल्कि अन्य द्विभाजनों की तरह स्त्री-मुक्ति की राह के रोड़े के रूप में देखती हैं।

एलिजाबेथ स्पीलमैन की दलील है कि जेंडर को सामाजिक निर्मिति मानने की धारणा के पैरोकार जाति, नस्ल, वर्ग, क्षेत्र आदि के तहत चलने वाली समाजीकरण की प्रक्रिया और उससे उपजने वाली अहम भूमिकाओं को नज़रअंदाज़ कर जाते हैं। यदि स्त्रीत्व और पुरुषत्व के निर्माण में इन कारकों की भूमिका न होती, तो सभी स्त्रियों का स्त्री होने और

सभी पुरुषों का पुरुष होने का अनुभव एक-सा होता। जब पश्चिम में अश्वेत महिलाओं और भारत में दलित-आदिवासी महिलाओं ने सभी स्त्रियों के एक ही धरातल पर स्थित होने की धारणा को चुनौती दी, तो नारीवादियों ने स्त्रियों के बीच विद्यमान भिन्नताओं पर गम्भीरता से विचार करना शुरू किया। भारतीय संदर्भ में ही दलित स्त्रियों की सेक्शुअलिटी और ऊँची जातियों की स्त्रियों की सेक्शुअलिटी में भेद रहा है। पितृसत्तात्मक निजाम के तहत दलित स्त्रियाँ ऊँची जातियों के पुरुषों के लिए उपलब्ध-सी मानी जाती रही है। पश्चिम की अश्वेत स्त्रियों का अनुभव भी दलित स्त्रियों जैसा ही है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरो, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सक्राफ्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलेन सिचू।

संदर्भ

1. लिंडा निकालसन (1994), 'इंटरप्रिंटिंग जेंडर', साइंस, खण्ड 20 अंक-1.
2. गेल रूबिन (1975), 'द ट्रैफ़िक इन वुमन : नोटस ऑन दी पॉलिटिकल इकाॉनॉमी ऑफ़ सेक्स', संकलित : आर. टेट (सम्पा.), *टुवर्ड्स एन एंथ्रोपॉलॉजी ऑफ़ वुमन*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. थॉमस लैकर (1978), *मेकिंग सेक्स : बॉडी ऐंड जेंडर फ़ॉर्म द ग्रीक्स टू फ़्रॉयड*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स.
4. एलिसन जैगर (1983), *फ़ेमिनिस्ट पॉलिटिक्स ऐंड ह्यूमन नेचर*, रोमन ऐंड एलेनहेल्ड, ससेक्स.
5. जुडिथ बटलर (1990), *जेंडर ट्रबुल*, राडलेन, लंदन, द्वितीय संस्करण.

— विजय कुमार झा

जैन दर्शन

(Jain Philosophy)

ईसा से छह सौ साल पहले ब्राह्मण-परम्परा और श्रमण-परम्परा भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख धाराएँ थीं। पहली धारा यज्ञ तथा भौतिक सुखों की पक्षधर थी, तो दूसरी धारा निवृत्ति एवं मोक्ष की प्रबल समर्थक थी। जैन धर्म का संबंध श्रमण-परम्परा से है। जैन दर्शन प्राचीनता की दृष्टि से भारत की प्राचीनतम दार्शनिक प्रणालियों में से एक है। जैन शब्द की उत्पत्ति 'जिन' से हुई है। इसका अर्थ होता है जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली हो। ऐसे विजयी लोगों के अनुयायियों को जैन कहा जाता है और ऐसे विजय प्राप्त मुक्त पुरुषों को वीतरागी माना जाता है। जैन धर्म को पूजनीय कहे जाने की वजह से इसे 'आहंदुर्भ' की संज्ञा दी जाती है और जैन धर्म को 'निग्रंथ' कहे जाने के पीछे कारण यह है कि जैन साधु कोई सम्पत्ति नहीं रखते कि वे गाँठ बाँध सकें। जैन-दर्शन वस्तुवादी है क्योंकि वह वाह्य-जगत के अस्तित्व को मानता है। वह बहुसत्तावादी है क्योंकि वह अनेक तत्त्वों को मानता है। वह अनीश्वरवादी है, क्योंकि वह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता। जैन धर्म ने वेद की प्रामाणिकता, पुरोहितवाद तथा कर्मकाण्ड का घोर विरोध किया। उसने घोषित किया कि ईश्वर विषयक अवधारणा त्याग करके भी ब्राह्मण के रहस्यों को जाना जा सकता है और पूर्णता हासिल की जा सकती है।

विरोधाभास यह है कि जैनियों ने ईश्वर की अवधारणा को तो खारिज किया, लेकिन दूसरी ओर उन्होंने अपने आचार्यों यानी तीर्थकरों को उसी स्थान पर पहुँचा दिया। जैन धर्म में तीर्थकरों को वही स्थान प्राप्त है, जो दूसरी जगहों पर भगवान को। अंतर इस बात का है कि ब्राह्मण धर्म की तरह ईश्वर यहाँ स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान नहीं है, बल्कि अनेक ईश्वर हैं। जैन धर्म में अर्हन्तपद और सिद्ध पद प्राप्त जीव ही 'ईश्वर' पद से अभिहित होता है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव तथा अंतिम व चौबीसवें तीर्थकर होने का श्रेय महावीर को है जो गौतम बुद्ध के समकालीन माने जाते हैं। जैन धर्म को मौजूदा स्वरूप देने और उसके प्रवर्तन का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। उनका जीवन-काल छठी शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है।

कालांतर में जैन धर्म सम्प्रदायों श्वेताम्बर और दिगम्बर में बँट गया। दिगम्बर आचार पालन में कुछ कठोर तथा श्वेताम्बर उदार हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि निर्वस्त्र रहते हैं तथा श्वेताम्बर सफ़ेद वस्त्र पहने रहते हैं, किंतु ये सिद्धांत सिर्फ जैन मुनियों तक ही सीमित हैं, गृहस्थ तथा श्रावकों के लिए नहीं। एक फ़र्क यह भी है कि दिगम्बर सम्प्रदाय स्त्री-

शरीर से मुक्ति सम्भव नहीं मानता, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय की यह मान्यता नहीं है।

चार्वाक दर्शन की तरह जैन दर्शन सिर्फ प्रत्यक्ष को प्रमाण मान कर अनुमान तथा शब्द को प्रमाण मानने से इनकार नहीं करता। चार्वाकों का तर्क है कि कभी-कभी अनुमान और शब्द यथार्थ ज्ञान का रूप नहीं ले पाते। जैन दर्शनियों का कहना है कि इस आधार पर कहा जाए तो प्रत्यक्ष भी हमेशा प्रमाणिक नहीं होता। कभी-कभी प्रत्यक्ष भी भ्रमपूर्ण होता है। अगर ऐसा है तो उन्हें भी अनुमान और शब्द की तरह प्रमाण नहीं माना जा सकता। जैनियों का तर्क है कि चार्वाक विपक्षियों से वाद-विवाद के दौरान उनके शब्दों के जरिये ही उनके विचारों का अनुमान करते हैं, अन्यथा वाद-विवाद में वे समर्थ नहीं हो पाते। अतः चार्वाक का यह कहना कि 'प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है' युक्तियुक्त नहीं है। जैन दर्शन प्रत्यक्ष के साथ ही साथ अनुमान और शब्द को भी प्रामाणिक मानता है। विश्वसनीय पुरुषों के वाक्य-शब्द अपने आप में प्रमाण होते हैं। जैनों के अनुसार आध्यात्मिक विषयों का यथार्थ ज्ञान प्रारम्भ में प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। इनके लिए सर्वज्ञ तथा मुक्त जिनों या तीर्थकरों के उपदेश ही प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण से द्रव्यों के बारे में ज्ञान मिलता है। जैन दर्शन भी चार्वाकों की तरह मानता है कि द्रव्य वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन चार प्रकार के तत्त्वों से मिल कर बना हैं। अनुमान आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म का ज्ञान कराता है। भौतिक द्रव्यों की स्थिति के लिए स्थान आवश्यक है। इससे आकाश का अस्तित्व साबित होता है। द्रव्यों की अवस्थाओं का क्रमिक परिवर्तन काल के बिना नहीं हो सकता। इस युक्ति से काल का अस्तित्व सिद्ध होता है। धर्म और अधर्म गति और स्थिति के कारण हैं। इनका अस्तित्व भी निर्विवाद है, क्योंकि किसी अनुकूल कारण के बिना द्रव्यों में गति या स्थिति नहीं आ सकती। भौतिक द्रव्य (पुद्गल) आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म के अतिरिक्त और भी एक प्रकार का द्रव्य है। पुद्गल का प्रयोग सामान्यतः पृथ्वी आदि भूत द्रव्यों के अर्थों में किया जाता है। उन द्रव्यों को हम देखते हैं, छूते हैं, सुनते हैं तथा खाते हैं और पीते हैं। इनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श चार प्रकार के गुण पाये जाते हैं। ये गुण परमाणुओं में भी देखे जा सकते हैं, किंतु कोई गुण पदार्थ के बिना मौजूद नहीं रह सकता।

जैन मतावलम्बी यह मानते थे कि वस्तुएँ मस्तिष्क से इतर यथार्थ हैं। वे इस तत्त्ववादी सिद्धांत का विरोध करते थे कि पदार्थ से स्वतंत्र रह कर भी गुणों के अस्तित्व की सम्भावना है। इस हद तक जैन मतावलम्बी भौतिकवादी थे। उनका मत था कि कोई भी वस्तु इंद्रिय-संवेदनों द्वारा, जो जीव अर्थात् चेतन के अवयव हैं, जानी जा सकती है। लेकिन

वस्तु और इंद्रियों के बीच सम्पर्क हुए बिना इंद्रिय प्रत्यक्ष होना असम्भव है। जैन धर्म मस्तिष्क और पदार्थ की पारस्परिक सापेक्षता स्वीकार करता है। साथ ही वह ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के बीच संबंध भी स्वीकार करता है।

जब व्यक्ति अपने सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है तो उसे जीव या आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान का पता चलता है। चैतन्य पदार्थ की उत्पत्ति जड़ पदार्थ से नहीं होती। ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है कि जड़ के संयोग से चैतन्य पदार्थ का प्रादुर्भाव हुआ हो। जैनियों का यह विचार चार्वाक दर्शन के विरुद्ध है। जैन-दर्शन की प्रस्थापना है कि जितने सजीव शरीर हैं उतने ही जीव हैं। मनुष्य, पशु-पक्षियों में ही नहीं बल्कि पेड़-पौधों व धूल-कणों में भी जीव हैं। सभी जीव चेतन है, पर समान प्रकार से नहीं। वनस्पतियों तथा मिट्टी के टुकड़ों में पाये जाने वाले जीव एकेंद्रिय होते हैं। उनका बोध स्पर्शेंद्रिय से ही सम्भव हो पाता है। कुछ जीव दो इंद्रिय, कुछ तीन या चार इंद्रिय वाले होते हैं तथा मनुष्य तथा उच्च वर्ग के जीव पाँच इंद्रिय वाले होते हैं। इन इंद्रियों के माध्यम से वस्तुज्ञान होता है। किंतु जीव की इंद्रिय चाहे जैसी हो उसका ज्ञान एक सीमा तक ही सीमित होता है। अतः वह विभिन्न दुखों से दुखी रहता है। लेकिन इसके साथ ही प्रत्येक जीव में अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य और अनंत सुख प्राप्त करने की शक्ति निहित होती है। हर जीव के ये स्वाभाविक गुण होते हैं। जिस प्रकार बादलों से सूर्य ढँक जाता है उसी तरह से कर्मों के कारण जीव का आंतरिक स्वरूप छिप जाता है। जीव के कर्म तथा उसकी इच्छाएँ पुद्गल को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। परिणामस्वरूप धूल-कणों से आच्छादित दीपक या सूर्य के प्रकाश की तरह जीव का स्वरूप पुद्गल के सम्पर्क में आने पर छिप जाता है। पुद्गल की वजह से जीव-बंधन में पड़ा होता है और कर्मों को हटा देने पर वह बंधन मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकाशित कर सकता है।

जैन दर्शन के मुताबिक तीर्थकरों के जीवन तथा उनके उपदेश के जरिये मोक्ष-प्राप्त करना सम्भव है। जीव सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक चरित्र अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पालन करते हुए बंधन मुक्त हो सकता है। इनके द्वारा वासनाओं पर नियंत्रण तथा कर्मों का नाश हो जाता है तथा इन विघ्नों के हटने पर जीवन के अनंत चतुष्टय अर्थात् अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति तथा अनंत आनंद का प्रस्फुटन होता है। यही मोक्ष की अवस्था होती है।

जैन दर्शन अनेकांतवाद के सिद्धांत के लिए काफ़ी प्रशंसित रहा है। इसका तात्पर्य है कि किसी वस्तु का हमेशा एक ही रूप नहीं होता। दृष्टि-भेद से वही वस्तु किसी अन्य रूप में दीख सकती है। जैन दर्शन सत् और असत् जैसा कोई

भेद नहीं मानता। एक वस्तु सत् भी हो सकती है और वही किसी अन्य दृष्टि-भेद के कारण असत् भी हो सकती है। स्वरूप की अपेक्षा से वस्तु 'सत्' कही जाती है, वही प्रारूप की अपेक्षा से असत् भी कही जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु अलग-अलग स्वभाव की होती है और वह स्वभाव उसी वस्तु में रहता है, दूसरी वस्तु में नहीं। इसे एक दृष्टांत के जरिये कहा जाए तो घट में घटत्व रहता है और इसीलिए घट-स्वभाव दृष्टि में रख कर हम कहते हैं कि सामने दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ 'घट' है। परंतु घटत्व को दृष्टि में रखकर क्या हम कह सकते हैं कि यह घट है? यानी एक ही वस्तु सत् भी हुई और असत् भी हुई। अंतर महज वाक्यों, कल्पनाओं और दृष्टि-भेद का है। संसार की हर वस्तु 'है' भी और 'नहीं भी' है। कोई वस्तु सर्वथा सत् या असत् नहीं होती। इसे ही जैन-दर्शन में अनेकांतवाद कहा गया है।

इसे ही स्यादवाद सिद्धान्त भी कहा गया है। सामान्तः स्यादवाद को संदेहवाद का पर्याय समझा जाता है, क्योंकि स्याद शायद के अर्थ में लिया जाता है। जैन दार्शनिकों की दृष्टि से 'स्यात्' का तात्पर्य 'कथंचित' अर्थात् 'किसी अपेक्षा से है। इसी अपेक्षावाद का सूचक 'स्यादवाद' है जो अनेकांतवाद को समझने में सहायक है। इसकी तार्किक अभिव्यक्ति 'सप्तभंगी' नय के द्वारा की जाती है। सप्तभंगी नय का अर्थ है, किसी वस्तु के रूप को प्रकट करने के लिए सात प्रकार से कहने का ढंग : स्याद अस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च स्यान्नास्ति, स्याद् अव्यक्तम्, स्यादस्ति च स्याद् अव्यक्तव्यं च, स्यान्नास्ति च स्याद् अव्यक्तव्यं च और स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च स्याद् अव्यक्तव्यं च।

अब यहाँ एक स्वाभाविक सवाल उठ खड़ा होता है कि कथन भी किया जाए और अवक्तव्य भी कहा जाए— ये तो दोनों परस्पर विरोधी बातें हुईं। दरअसल जैन दर्शन वस्तु को अवक्तव्य नहीं मानता। वह अपेक्षा की दृष्टि से ही ऐसा मानता है। इसी बात को सूचित करने के लिए 'अवक्तव्य' के पहले 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् वस्तु हमेशा अवक्तव्य नहीं बल्कि किसी दृष्टिकोण विशेष से ही वह अवक्तव्य है।

जैन दर्शन अन्य मतों के प्रति भी आदर भाव रखता है। वह कहता है कि प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मक है। एक ही वस्तु एक दृष्टि से सत् है दूसरी दृष्टि से असत् है। दृष्टिगत आधार वस्तु बहुधर्मी है। उसकी सत्यता दृष्टि-विशेष पर निर्भर करती है। प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान और विचार सीमित होते हैं, उसकी एक सीमा होती है। अतः किसी व्यक्ति का किसी विषय के बारे में ज्ञान उस सीमा तक ही सत्य हो सकता है। उसके सिर्फ एक पक्ष को ही जाना जा सकता है। किसी वस्तु के बारे में कोई विचार देने के पहले 'स्याद' शब्द के इस्तेमाल कर लेने

से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह विचार सिर्फ एक पक्ष से ही सत्य है, दूसरे पक्ष से कुछ दूसरा ही सत्य हो सकता है। इस तरह से एक विरोधी मत को भी सम्मान प्राप्त हो जाता है। अतः विरोधी विचारों को भरपूर सम्मान देना जैन धर्म की विशेषता है।

जैन धर्म किसी भी धर्म से न तो विरोध रखता है और न किसी दार्शनिक दृष्टि का अलाप करता है। स्यादवाद समग्र सिद्धांतों में सामंजस्य का पक्षपाती है। उसमें त्याग तथा तपस्या के आचरण एवं अहिंसा पर जोर दिया गया है। अहिंसा के अंतर्गत सिर्फ किसी का उत्पीड़न या प्राणनाश ही हिंसा नहीं माना गया है। बल्कि मनसा, वाचा और कर्मणा द्वारा हिंसा-निवृत्ति का आग्रह व अनुपालन है। महावीर का स्पष्ट संदेश है— जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जब तक इंद्रियाँ हीन-अशक्त नहीं बनतीं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए। उसके बाद होता ही क्या है? यह संदेश व्यवहार्य रूप में सार्थक किया जा सकता है, क्योंकि बिना क्रिया के ज्ञान बोझ ही है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), *हमारी परम्परा*., सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
2. चटर्जी एवं दत्त, *भारतीय दर्शन*, अनु. हरिमोहन झा एवं नित्यानंद मिश्र, पुस्तक भण्डार, पटना.
3. के. दमोदरन (2001), *भारतीय चिंतन परम्परा*, अनु. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली.
4. बलदेव उपाध्याय (1999), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी.

—अजय कुमार पाण्डेय

जैवविविधता

(Biodiversity)

अगर हम पृथ्वी के भविष्य की रक्षा करना चाहते हैं तो उसके पर्यावरण और पारिस्थितिकी को बचाना जरूरी है। इसके लिए अपने ग्रह की जैवविविधता और लाखों वर्ष के दौरान विकसित हुए जीवन-रूपों का संरक्षण अनिवार्य है। प्रजातियों के नष्ट होने का मतलब होगा पृथ्वी की जैव-विरासत का क्षय जिसके परिणामस्वरूप भविष्य की पीढ़ियों को अपूरणीय नैतिक, व्यावहारिक और वैज्ञानिक क्षति का सामना करना होगा। पिछले दो दशकों से अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने अपनी यह जिम्मेदारी कुछ-कुछ समझी है, पर अब भी इस मोर्चे पर प्रगति की रफ्तार धीमी ही कही जाएगी। जैवविविधता का संरक्षण करने वाले उष्णकटिबंधीय जंगलों को नष्ट करने की प्रक्रिया पूरी बीसवीं सदी में जारी रही है, पर उसके प्रति सरोकारों के तहत अंतर्राष्ट्रीय संस्थागत अनुक्रिया बहुत देर से हुई है। 1992 में हुई ऐतिहासिक रियो कांफ्रेंस के बाद अगले साल 155 देशों ने जैवविविधता बचाने के लिए की गयी संधि पर हस्ताक्षर किये हैं। इस कन्वेंशन के जरिये कुछ ऐसे नियमों की स्थापना की गयी है जिनके तहत जेनेटिक संसाधनों और जैव-प्रौद्योगिकियों के इस्तेमाल को विनियमित किया जाएगा। कन्वेंशन के सदस्य देशों ने शपथ ली है कि वे जैवविविधता को बचाने की योजनाएँ बनायेंगे और उनकी संबंधित रपटों की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समीक्षा की जाएगी। लेकिन, दुर्भाग्य से जैवविविधता के संरक्षण के लिए उठाये गये ये कदम भी अपर्याप्त हैं क्योंकि जो भी नियम-कानून बनाये गये हैं वे अस्पष्ट होने के साथ-साथ कई तरह की शर्तों के मातहत भी हैं।

ज्यादातर लोग जैवविविधता को प्रजाति विविधता का पर्याय मान कर चलते हैं। लेकिन प्रजाति विविधता तो जैवविविधता की एक श्रेणी मात्र है। संरक्षण की दृष्टि से जैवविविधता को मुख्य तौर से तीन श्रेणियों में बाँट कर देखा जाता है : प्राकृतिक वास संबंधी विविधता यानी हैबिटेट डायवर्सिटी, आनुवंशिक विविधता यानी जेनेटिक डायवर्सिटी और प्रजातीय विविधता यानी स्पीशीज़ डायवर्सिटी।

हैबिटेट डायवर्सिटी : जैवविविधता की यह धारणा उन स्थानों से ताल्लुक रखती है जहाँ विभिन्न जीवन-रूपों का वास है। जैसे, मूँगे के द्वीप, अमेरिका के उत्तर-पश्चिम प्रशांत इलाक़े का वन-क्षेत्र, ऊँची घास से आच्छादित मैदान, नमी से समृद्ध तटीय इलाक़े, और ऐसे ही कई और स्थान। इस तरह के सभी क्षेत्रों में असंख्य प्रजातियाँ रहती हैं और उनका जीवन उनके इस प्राकृतिक वास पर पूरी तरह से निर्भर है। अगर ये

इलाक़े नहीं रहे तो इनके साथ वे प्रजातियाँ भी ख़त्म हो जाएँगी। पारिस्थितिकी के प्रति गम्भीर सरोकारों की कमी होने के कारण होता यह है कि ये विशाल क्षेत्र पूरी तरह से तो नष्ट नहीं होते, पर उनका आकार घटता चला जाता है और अंत में उनके छोटे-छोटे टुकड़े भर रह जाते हैं। अमेरिका के पुराने वन-क्षेत्रों और नमी से समृद्ध तटीय धरती के साथ यही दुर्घटना घटी है। इसी तरह के क्षय का सामना दुनिया भर के उष्णकटिबंधीय वनों को करना पड़ रहा है। भारत में भी वन-क्षेत्र का काफ़ी क्षरण हो चुका है। इसका नतीजा यह हुआ है कि न केवल बहुत सी स्थानीय प्रजातियाँ लुप्त हो गयी हैं, बल्कि उन प्रजातियों के नष्ट होने का खतरा बढ़ गया है जिनकी उत्तरजीविता के लिए इन प्राकृतिक आवास क्षेत्रों की विशालता हमेशा से एक शर्त की तरह काम करती रही है।

जेनेटिक डायवर्सिटी : यह विशेष तरह का पद है जिसे तकनीकी तौर पर समझना आवश्यक है। जीव वैज्ञानिक जब प्रजातियों की आबादी का जिक्र करते हैं तो उसका मतलब होता है किसी एक खास इलाक़े में रहने वाली वे प्रजातियाँ जो मोटे तौर पर आपस में ही सहवास करती हैं। उदाहरण के लिए अगर एक क्षेत्र में कौवों की आबादी है तो वे किसी दूसरे क्षेत्र के कौवों के बजाय अपने जोड़ों को अपने ही क्षेत्र और अपने ही समूह से चुनते हैं। इस तरह उनके बीच जींस की सहभागिता विकसित होती रहती है। जीव वैज्ञानिकों के लिए एक इलाक़े के पक्षियों की आबादी का अर्थ है उनकी आनुवंशिकी की अनूठी जानकारी। उस खास इलाक़े में रहने वाली कौवों की आबादी साझे तौर पर एक ऐसी जेनेटिक इनफ़ॉर्मेशन की वाहक है जो कहीं और नहीं मिल सकती। सिद्धांत के तौर पर एक इलाक़े में रहने वाले कौवों को किसी दूसरे इलाक़े में रहने वाले कौवों के साथ समागम करना चाहिए। आख़िरकार हैं तो दोनों कौवे ही। पर, व्यवहार में ऐसा नहीं होता। उनके आवासों के भौगोलिक क्षेत्रों के बीच इतनी दूरी होती है कि वे ऐसा नहीं कर पाते।

दरअसल, प्रजातियों की विभिन्न आबादियाँ मिल कर जेनेटिक डायवर्सिटी की रचना करती हैं। जिन प्रजातियों की केवल एक ही आबादी रह गयी है, उनकी आनुवंशिक विविधता भी बहुत घटी हुई मानी जाती है। मसलन, कैलिफ़ोर्निया के इलाक़े में रहने वाले गिद्धों की अब कोई और आबादी नहीं मिलती। इसका मतलब हुआ कि वैसे गिद्धों की आनुवंशिक विविधता का क्षय हो चुका है। भारत में भी गिद्धों की आबादियाँ लगातार कम होती जा रही हैं। इसके विपरीत उत्तरी अमेरिका के ज़्यादातर इलाक़ों में पायी जाने वाली गौरियों की आबादियाँ अपनी आनुवंशिक विविधताओं को क़ायम रख पायी हैं। जीव वैज्ञानिकों की कोशिश होती है कि न केवल प्रजातियों की संख्या सुरक्षित रहे और बढ़े, बल्कि उनकी अलग-अलग आबादियाँ भी

क्रायम रहें। वैसे भी किसी प्रजाति का बचना उसका आबादी के बचने पर निर्भर करता है। अगर आबादी घटेगी या खत्म होगी तो प्रजातियों के पास विपरीत परिस्थितियों (जैसे ग्लोबल वार्मिंग) में बचे रहने के उपाय भी घटते चले जाएंगे। हर आबादी धीरे-धीरे कुछ ऐसी आनुवंशिकीय खूबियों से सम्पन्न होती जाती है जिनके जरिये प्रजातियाँ नयी परिस्थितियों के साथ तालमेल बैठाने का प्रयास करती हैं।

स्पीशीज डायवर्सिटी : कहने के लिए दुनिया में करीब पंद्रह लाख प्रजातियाँ सूचीबद्ध हैं, लेकिन समझा जाता है कि पृथ्वी पर इनके अलावा भी असंख्य अनाम प्रजातियाँ पायी जाती हैं। एक अंदाजे के मुताबिक हमारे ग्रह पर पचास लाख से डेढ़ करोड़ तक प्रजातियाँ होंगी। उष्णकटिबंधीय जंगलों में विभिन्न कीटों के बारे में किये गये अध्ययनों के जरिये इन अनाम प्रजातियों का पता चला है। उनके बचे रहने के लिए उष्णकटिबंधीय वनों का बने रहना जरूरी है। पृथ्वी के केवल दो फ्रीसदी हिस्से पर ही इस तरह के वन हैं, पर नब्बे फ्रीसदी से ज्यादा प्रजातियों का निवास इन्हीं में है। इन जंगलों के नष्ट होने के कारण प्रजाति विविधता पर बहुत बड़ा संकट आ गया है। प्रजातियों के अन्य सम्भव प्राकृतिक वासों का अभी अध्ययन किया जाना बाक़ी है। सम्भावना यह है कि जैसे-जैसे हमारा जैव-ज्ञान आगे बढ़ेगा, ज्ञात प्रजातियों की संख्या बढ़ती चली जाएगी।

मुश्किल यह है कि पिछले कई दशकों से प्रत्येक वर्ष जैवविविधता को बनाये रखने के लिए अनिवार्य इन जंगलों का विस्तार कुछ न कुछ कम हो जाता है। मध्य और दक्षिण अमेरिका में मवेशी चराने के लिए या खेती के लिए इन जंगलों को जलाया गया। एशिया में इमारती लकड़ी के लिए ये जंगल काटे गये। अफ्रीका में जलावन की लकड़ी जमा करने की लम्बी प्रक्रिया के तहत वनों का क्षय हुआ। पिछली सदी में करीब एक चौथाई से लेकर आधे बरसाती वन नष्ट हो चुके हैं। अगर यह तबही इसी तरह चलती रही तो इक्कीसवीं सदी के मध्य तक इन वनों के कुछ टुकड़े ही पृथ्वी पर शेष रह जाएंगे। जीव वैज्ञानिकों की मान्यता है कि 75 वर्ष में पृथ्वी करीब आधी या उससे ज्यादा प्रजातियों को खो देगी। मनुष्य अपनी सर्वग्रासी जीवन-शैली के कारण इससे अगले पचास से सौ साल के बीच उतनी प्रजातियों को नष्ट कर देगा जितनी प्राकृतिक कारणों से दस करोड़ वर्षों में नष्ट होती हैं। कबूतर की एक नस्ल को नष्ट होने में केवल दस वर्ष लगते हैं, जबकि प्राकृतिक क्रम-विकास के तहत उसके विकसित होने के लिए एक सहस्राब्दी भी कम है।

देखें : चिपको आंदोलन, जैवविविधता, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकवाद, पारिस्थितिकीय दर्शन, पेटेंट, भारत में पेटेंट क़ानून।

संदर्भ

1. ओ. ग्रीन (1999), 'एनवायरनमेंटल इशूज़', संकलित : जे. बायलिस और एस. स्मिथ (सम्पा.), *द ग्लोबलाइजेशन ऑफ़ वर्ल्ड पॉलिटिक्स*, ओयूपी, ऑक्सफ़र्ड
2. के. लिटफ़िन (1999), 'एनवायरनमेंटल सिक्यूरिटी इन द कमिंग सेंचुरी', संकलित : टी. पॉल और जे. हाल (सम्पा.), *इंटरनेशनल ऑर्डर ऐंड द फ्यूचर ऑफ़ वर्ल्ड पॉलिटिक्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. डी. पर्लमैन वगैरह (सम्पा.) (1997), *एक्सप्लोरिंग वेल्थूज़ ऐंड प्रायोरिटीज़ इन कंज़रवेशन*, ब्लैकवेल साइंस, ऑक्सफ़र्ड
4. ओ. यंग (1995), *इंटरनेशनल गवर्नेंस : प्रोटेक्टिंग द एनवायरनमेंट इन अ स्टेटलैस सोसाइटी*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

जोआन रॉबिंसन

(Joan Robinson)

जोआन रॉबिंसन (1903-1983) उत्तर-कींसियन अर्थशास्त्र के संस्थापकों में से एक मानी जाती हैं। उन्होंने हमेशा यथार्थपरक आर्थिक गतिविधियों के अध्ययन पर जोर दिया और ऐसे तमाम आर्थिक सिद्धांतों को आड़े हाथों लिया जिन पर अमल करना उनकी निगाह में मुमकिन नहीं था। रॉबिंसन का ज़िक्र होने पर यह चर्चा जरूर होती है कि अर्थशास्त्र की दुनिया में स्त्रियों की संख्या इतनी नगण्य क्यों है। दरअसल इस अनुशासन की गणितीय प्रकृति पर इसकी ज़िम्मेदारी नहीं डाली जा सकती, क्योंकि गणित और प्राकृतिक विज्ञानों में पीएचडी करने वाली स्त्रियों के मुकाबले भी अर्थशास्त्र में क्रदम रखने वाली महिलाओं की संख्या बहुत कम होती है। समाज-विज्ञान के सर्वाधिक पुरुष प्रधान अनुशासन में अपनी चमकदार प्रतिभा के दम पर अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करने वाली रॉबिंसन ने अपना करियर आदर्श प्रतियोगिता और एकाधिकार के बीच स्थित बाज़ार के रूपों की गहरी पड़ताल करने से शुरू किया। उन्होंने बाज़ार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति का अध्ययन करते हुए पता लगाया कि बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ दामों, उत्पादन और रोज़गार संबंधी फ़ैसलों पर कैसे पहुँचती हैं। बाद में वे जान मेनार्ड कींस के सिद्धांतों की पैरोकार और विस्तार करने वाली विद्वान के रूप में उभरीं। रॉबिंसन द्वारा किये गये अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सूत्रीकरणों ने अर्थशास्त्रियों को यह समझने में मदद की कि अर्थव्यवस्थाओं का वास्तविक कामकाज कैसे चलता है। रॉबिंसन केम्ब्रिज

विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्रियों के उस समूह की सदस्य भी थीं जिनके साथ होने वाले विचार-विमर्श के जरिये ही कींस ने अपनी क्लासिक रचना *जनरल थियरी* का विकास किया था।

जोआन रॉबिंसन का जन्म सरे, इंग्लैण्ड के एक उच्च-मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। उनके पिता एक फ़ौजी जनरल, लेखक और शिक्षाविद् थे। उनकी माँ केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर की बेटी थीं। उन दोनों ने अपनी बेटी जोआन मॉरिस को बेहतरीन शिक्षा दिलाई। केम्ब्रिज के जिरटन कॉलेज में उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया, क्योंकि वे गरीबी और बेरोज़गारी की समस्याओं का समाधान खोजना चाहती थीं। अर्थशास्त्री ऑस्टिन रॉबिंसन से विवाह के बाद वे मॉरिस से रॉबिंसन हो गयीं। रॉबिंसन ने अर्थशास्त्री के रूप में कुछ वर्ष अपने पति के साथ भारत में भी गुज़ारे। लेकिन, उनके ज्यादातर वर्ष केम्ब्रिज में अर्थशास्त्र का अध्यापन और शोध करते हुए ही गुज़रे।

बीए की पढ़ाई के दौरान रॉबिंसन जब मार्शल की रचना *प्रिंसिपल्स ऑफ़ इकॉनॉमिक्स* का अध्ययन कर रही थीं तो उन्होंने पाया कि इस पाठ्य पुस्तक के निष्कर्ष बीस के दशक की ब्रिटिश अर्थव्यवस्था से मेल नहीं खाते। यह पुस्तक बता रही थी कि उत्पादक और उपभोक्ता दोनों मिल-जुल कर अपनी समृद्धि को ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ाने की कोशिश करते हैं, जबकि उस ज़माने की अर्थव्यवस्था बेरोज़गारी से आक्रांत थी और कारखानों की उत्पादक क्षमता काफ़ी गिर चुकी थी। मार्शल को पढ़ते हुए रॉबिंसन इस बात से भी कुछ असंतुष्ट हुईं कि उन्होंने केवल आदर्श प्रतियोगिता और एकाधिकार की स्थितियों पर ही गौर किया है। रॉबिंसन का खयाल था कि अर्थव्यवस्थाओं की हकीकत इन दो सिरों के बीच कहीं स्थित है। अपनी रचना *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ इम्पेरफ़ेक्ट कम्पटीशन* (1933) में रॉबिंसन ने दिखाया कि छोटी-छोटी फ़र्मों के बीच होने वाली प्रतियोगिता और केवल एक फ़र्म के एकाधिकार के बीच के अंतराल में कम्पनियों का वजूद किस तरह बिखरता रहता है।

कम्पनियों की निर्णय-प्रक्रिया समझने के लिए रॉबिंसन ने *सीमांत आमदनी* (मार्जिनल रेवेन्यू) की थियरी का इस्तेमाल किया। कोई फ़र्म सीमांत आमदनी तब कमाती है जब वह अपने सामान्य उत्पादन के अलावा अतिरिक्त उत्पादन करके बेचती है, और इसके लिए उसे न दाम गिराने पड़ते हैं और न ही माल की सेल लगानी पड़ती है। यह सीमांत आमदनी हमेशा उत्पादित वस्तु के दाम के बराबर ही बैठती है। चूँकि बाज़ार में आदर्श प्रतियोगिता की स्थिति नहीं होती इसलिए फ़र्म इस अतिरिक्त माल को कम दाम पर बेचने के लिए या उनकी सेल लगाने के लिए मजबूर होती हैं। इसी



जोआन रॉबिंसन (1903-1983)

अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण सीमांत आमदनी शून्य से भी नीचे गिर कर ऋणात्मक तक हो सकती है। अब यह फ़र्म के अपने निर्णय पर निर्भर करता है कि वह सीमांत आमदनी न होने पर भी ज़्यादा उत्पादन करना पसंद करेगी या नहीं। या वह कम उत्पादन करेगी, कम बेचेगी पर दाम नहीं गिरायेगी।

रॉबिंसन ने दिखाया कि एक बड़ी फ़र्म कैसे कम उत्पादन करके और दाम बढ़ा कर अधिक आमदनी करने में कामयाब रहती है। चूँकि अर्थव्यवस्था को अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में काम करना पड़ता है इसलिए उत्पादन भी नाकाफ़ी होता है और क्षमता का भी पूरा दोहन नहीं हो पाता। अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण ही मज़दूरों को उत्पादित वस्तु के मूल्य से कम मेहनताना मिलता है। सीमांत उत्पादकता की अहमियत घट जाती है। अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण ही ताक़तवर फ़र्म श्रम का शोषण करने में कामयाब हो पाती हैं। अपनी दलील को समझाने के लिए रॉबिंसन ने *मोनोसोनी* के विचार का विकास किया। इसका मतलब हुआ : एक सेवायोजक के सामने रोज़गार चाहने वाले यानी मज़दूरों की सौदेबाज़ी की ताक़त का घट जाना। रॉबिंसन ने कहा कि आदर्श प्रतियोगिता की थियरी द्वारा नहीं बल्कि अपूर्ण प्रतियोगिता की थियरी द्वारा ही यह पता लगाया जा सकता है

कि बीस के दशक के इंग्लैण्ड में इस क्रूर बेरोजगारी क्यों थी और तीस के दशक की महामंदी का कारण क्या हो सकता है। अपूर्ण प्रतियोगिता के अर्थशास्त्र के जरिये रॉबिंसन ने पहली बार यह भी दिखाया कि बड़ी एकाधिकारी फ़र्मों एक ही माल के दाम अलग-अलग लोगों से अलग-अलग क्यों और कैसे वसूल करती हैं। वे बाज़ार को दो हिस्सों में बाँट कर देखती हैं : एक हिस्से में ऐसे उपभोक्ता आते हैं जो ऊँचे दाम देने के लिए तैयार हैं, और दूसरे हिस्से में वे उपभोक्ता आते हैं जो दाम बढ़ने के प्रति संवेदनशील हैं। इसके बाद फ़र्मों ऐसे तरीके तलाशती हैं जिनके तहत वे पहले क्रिस्म के उपभोक्ताओं की जेब से पैसा निकाल सकें। वे एक बिक्री दिवस की विभिन्न अवधियों में अलग-अलग दाम पर अपना माल बेचती हैं। मसलन, टेलिफ़ोन कम्पनी अपनी सेवा रात के वक़्त सस्ती रख सकती है। दिन में व्यापारी लोग उसी सेवा को ऊँचे दामों पर ख़रीदते हैं, क्योंकि उन पर महँगाई का ज़्यादा असर नहीं होता और उन्हें उस सेवा की बहुत ज़रूरत भी होती है। नया माल बन कर जब बाज़ार में आता है तो उसे ऊँची कीमत देने के लिए तैयार उपभोक्ता ख़रीदते हैं, और उसी माल को बाद में सेल पर वे ख़रीदते हैं जो कम दाम अदा करना चाहते हैं। इस तरह रॉबिंसन को बाज़ार में कीमतों के विभेदीकरण के सिद्धांत का सुराग खोजने का श्रेय जाता है। आगे चल कर उत्तर-कींसियन अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धांत का विकास किया।

रॉबिंसन का विचार था कि आपूर्ति और माँग के विश्लेषण में संतुलनावस्था का विचार असंतोषजनक है। एक विकसित होती हुई और बदलती हुई अर्थव्यवस्था को इस सिद्धांत के तहत नहीं समझा जा सकता। उपभोक्ता और व्यापारी दामों के प्रति अर्थशास्त्र के मानक सिद्धांतों के तहत अनुक्रिया नहीं करते, बल्कि वे यह सोच कर अनुक्रिया करते हैं कि भविष्य में दामों की स्थिति क्या होगी। रॉबिंसन ने पूँजी की प्रकृति पर भी नये सिरे से विचार किया। अर्थशास्त्र की दुनिया में उस बहस की शुरुआत का श्रेय उन्हीं को जाता है जिसे *केम्ब्रिज विवाद* की संज्ञा दी जाती है। रॉबिंसन ने वितरण के उस सीमांत सिद्धांत की आलोचना की जिसके तहत माना जाता था कि मुनाफ़े की दर पूँजी की सीमांत उत्पादकता पर निर्भर करती है। रॉबिंसन ने एक सीधा सा लगने वाला सवाल उठाया कि सीमांत उत्पाद का पता लगाने के लिए पूँजी को कैसे मापा जाए? यानी अगर मुनाफ़े की दर का पता नहीं है तो फिर पूँजी को मापने की सम्भावना क्या होगी? रॉबिंसन को कींस के अर्थशास्त्र को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र तक विकसित करने का श्रेय भी जाता है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी

अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ़्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. हार्वी ग्रैम और विवियन वाल्श (1983), 'जोआन रॉबिंसन इकॉनॉमिक्स इन रिट्रोस्पेक्ट', *जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक लिटरेचर*, खण्ड 21, अंक 2.
2. इनग्रिड रिमा (सम्पा.) (1991), *द जोआन रॉबिंसन लीगेसी*, एम.ई. शार्प, आरमोंक, न्यूयॉर्क.
3. मरज़ोरी टर्नर (1989), *जोआन रॉबिंसन ऐंड द अमेरिकंस*, एम.ई. शार्प, आरमोंक, न्यूयॉर्क.
4. शुलामित कान (1995), 'वुमन इन द इकॉनॉमिक्स प्रोफ़ेशन', *जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक पर्सपेक्टिवज़*, खण्ड 9, अंक 4.

— अभय कुमार दुबे

जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा

(Joseph Chelladurai Kumarappa)

जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा (1892-1960) को भारत में गाँधीवादी अर्थशास्त्र का प्रथम गुरु माना जाता है। अपने जीवनकाल में कुमारप्पा ने गाँधीवादी अर्थशास्त्र से जुड़े विषयों पर न केवल विशद लेखन किया बल्कि एक पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में भारत के दूरस्थ स्थानों में अनेक आर्थिक सर्वेक्षण करके ग्रामीण अर्थव्यवस्था के कायाकल्प के लिए सार्थक कार्यनीति का प्रतिपादन भी किया। कुमारप्पा का अर्थशास्त्र स्वतंत्र भारत के हर व्यक्ति के लिए आर्थिक स्वायत्तता एवं सर्वांगीण विकास के अवसर देने के उसूल पर आधारित था। भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था

और इसके प्राकृतिक स्वरूप को उन्नत करने के हिमायती कुमारप्पा ऐसे बिरले अर्थशास्त्री थे जो पर्यावरण संरक्षण को औद्योगिक-वाणिज्यिक उन्नति से कहीं अधिक लाभप्रद मानते थे। गाँधी के आर्थिक दर्शन से कांग्रेस पार्टी में उनके अपने सहयोगी भी पूर्णतः सहमत नहीं थे। इसीलिए स्वतंत्र भारत की आर्थिक नीतियों और गाँधीवादी आर्थिक नीतियों के बीच कोई समानता नहीं रही। परिणास्वरूप स्वतंत्र भारत ने पाश्चात्य अर्थव्यवस्था के नमूने के अंधानुकरण की होड़ में कुमारप्पा को जल्दी ही विस्मृत कर दिया।

कुमारप्पा का बचपन का नाम जोसेफ़ चेल्लादुरै कॉर्नेलियस था। उनका जन्म तमिलनाडु के तंजावुर शहर में 4 जनवरी, 1892 में एक ईसाई परिवार में हुआ था। उन्होंने मद्रास से अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद लंदन जाकर लेखा-विधि (एकाउंटेंसी) में प्रशिक्षण प्राप्त किया और फिर वहीं लंदन में एकाउंटेंट के रूप में कुछ वर्षों तक काम भी किया। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर और अपनी माता के बुलाने पर वे भारत लौटे और बम्बई में कुछ समय तक एक ब्रिटिश कम्पनी में काम करने के बाद 1924 में अपना व्यवसाय शुरू किया। 1927 में वे उच्च अध्ययन के लिए अमेरिका गये और सायराकुज़ विश्वविद्यालय से वाणिज्य एवं व्यापार प्रबंधन में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में सार्वजनिक वित्त का अध्ययन करके अपने समय के प्रख्यात अर्थशास्त्री एडविन सेलिगमन के मार्गदर्शन में 'सार्वजनिकवित्त एवं भारत की निर्धनता' पर शोध पत्र लिखा जिसमें भारत की आर्थिक दुर्दशा में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की नीतियों से हुए नुकसान का अध्ययन किया गया था। इस अध्ययन के दौरान ही कुमारप्पा ने पाया कि भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति का मुख्य कारण ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की अनैतिक और शोषक नीतियाँ हैं। इसी बीच उन्होंने अपने मूल पारिवारिक नाम कुमारप्पा को अपने नाम के साथ जोड़ने का फैसला किया।

स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े लोगों में भी अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को लेकर बैचेनी थी। इस बैचेनी के केंद्र में था ब्रिटिश साम्राज्य पर चढ़ा वह सार्वजनिक ऋण जिसे वह भारत में शासन चलाने के नाम पर औपनिवेशिक भारतीयों के मध्ये मढ़ना चाहती थी। कांग्रेस के 1922 के गया अधिवेशन और इसके बाद 1929 के लाहौर अधिवेशन में इस विषय पर चर्चा भी हुई थी। इसी बीच 1929 में अमेरिका से भारत लौटने के बाद कुमारप्पा भारतीय आर्थिक शोषण पर लिखे अपने लेख को प्रकाशित करने के संदर्भ में गाँधी से मिलने साबरमती आश्रम गये। गाँधी ने अपने पत्र *यंग इण्डिया* में इस लेख को प्रकाशित करने में रुचि भी दिखायी और कुमारप्पा से गुजरात के ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक सर्वेक्षण करने



जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा (1892-1960)

का आग्रह किया। गाँधी के कहने पर कुमारप्पा गुजरात के खेड़ा जिले के मातर ताल्लुका में सर्वेक्षण करने गये। गुजरात का यह इलाका पिछले कई सालों से कम वर्षा के कारण भीषण जल संकट से गुज़र रहा था लेकिन इसके बावजूद राजस्व वसूली के लिए सरकारी अमला बेहद सख्ती दिखा रहा था। कुमारप्पा ने मातर ताल्लुका के 45 गाँवों के निवासियों का आर्थिक सर्वेक्षण करके लगान वसूली की दर और कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के बीच जटिल संबंध को पहली बार सांख्यिकीय आँकड़ों के माध्यम से प्रदर्शित किया।

इसी दौरान *यंग इण्डिया* में कुमारप्पा के लेख 'सार्वजनिक वित्त और हमारी निर्धनता' का सिलसिलेवार प्रकाशन भी शुरू हो गया। साथ ही मातर ताल्लुका के आर्थिक सर्वेक्षण का प्रकाशन भी हो रहा था। इन प्रकाशनों के बीच गाँधी ने नमक सत्याग्रह के लिए दांडी यात्रा भी शुरू कर दी। नमक सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जब ब्रिटिश प्रशासन ने गाँधी को गिरफ्तार कर लिया तो *यंग इण्डिया* के संचालन की जिम्मेदारी कुमारप्पा पर आ गयी। इस पत्र में लेखन के कारण कुमारप्पा को भी गिरफ्तार करके डेढ़ साल के लिए जेल भेज दिया गया। 1931 में गाँधी-इरविन समझौते के बाद कुमारप्पा रिहा हुए और उन्हें लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार और भारत के बीच के वित्तीय

लेन देन की समुचित पड़ताल करने के लिए गठित समिति का अध्यक्ष बनाया गया। इस कांग्रेस अधिवेशन के बाद गाँधी गोलमेज़ कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए इंग्लैण्ड चले गये। गाँधी की अनुपस्थिति में कुमारप्पा ने *यंग इण्डिया* के सम्पादन की ज़िम्मेदारी फिर से उठायी और उनके आक्रामक लेखन के कारण ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पुनः गिरफ्तार करके ढाई साल के लिए जेल भेज दिया।

1933 में जेल से छूटने के बाद कुमारप्पा ने बिहार में विनाशकारी भूकम्प के राहत-कार्य के पैसे के लेन-देन का काम देखा। अत्यंत ईमानदार व समर्पित स्वयंसेवक की तरह कुमारप्पा ने इस राहत कार्य में हाथ बँटाने आये गाँधी को भी उनके आने-जाने का खर्चा देने से इनकार कर दिया। गाँधी ने 1934 में वर्धा आश्रम में कुमारप्पा के नेतृत्व में अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ की स्थापना की जिसमें ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अनुकूल उत्पादों के निर्माण, संरक्षण एवं प्रसार का अभियान चलाया गया। कुमारप्पा भारतीय अर्थव्यवस्था की मज़बूती में ग्रामीण आर्थिक स्थिति के योगदान को अच्छी तरह पहचानते थे और इसलिए उन्होंने इस ग्राम उद्योग संघ को कारगर बनाने में पूरा समय लगाया। अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ में अपने इस अनुभव के आधार पर सन् 1936 में कुमारप्पा ने *ग्राम आंदोलन क्यों?* शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की जो गाँवों की आर्थिक उन्नति पर केंद्रित गाँधीवादी अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के घोषणा पत्र के समान है।

1939-40 के दौरान कुमारप्पा ने मध्य प्रदेश और उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश में व्यापक आर्थिक सर्वेक्षण किये। 1942 में जब ब्रिटिश सरकार द्वितीय विश्व-युद्ध का अधिकतर खर्च भारत पर डालना चाहती थी तो कुमारप्पा ने इसके विरोध में एक लेख 'स्टोन फ़ॉर ब्रेड' लिखा और जिसके प्रकाशन के बाद उन्हें एक बार फिर जेल भेज दिया गया। कुमारप्पा ने अपने इस जेल-प्रवास का सदुपयोग करते हुए *प्रेक्टिस ऐंड परसेप्ट्स ऑफ़ जीसस* एवं *इकॉनॉमी ऑफ़ परमानेंस* शीर्षक से दो पुस्तकें लिखीं। पहली पुस्तक *ईसा मसीह का अनुशीलन व ज्ञानबोध* में ईसाइयत के सच्चे आदर्शों के बारे में विवेचना थी। *निरंतरता का अर्थशास्त्र* में पर्यावरण संरक्षण के साथ मानव के आर्थिक विकास की परिकल्पना का प्रतिपादन किया गया है। इस पुस्तक को कुमारप्पा की सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है।

30 जनवरी, 1960 को कुमारप्पा का निधन हुआ। उनकी स्मृति में कुमारप्पा इंस्टीट्यूट ऑफ़ ग्राम स्वराज की स्थापना की गयी।

देखें : अहिंसा-1 और 2, आशिस नदी-1 और 2, आनंद केंटिश कुमारस्वामी, चेटपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि, ट्रस्टीशिप, धीरूभाई शेठ, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, रजनी कोठारी, सविनय अवज्ञा, हिंसा।

संदर्भ

1. मार्क लिंडली (2007), जे.सी. कुमारप्पा : महात्मा गाँधीज़ *इकॉनॉमिस्ट*, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई.
2. बी. जकरिया (1999), 'इंटरप्रेटिंग गाँधी : जे.सी. कुमारप्पा, मॉडर्निटी ऐंड द ईस्ट', टी. गुहाठाकुरता (सम्पा.), *कल्चर ऐंड डेमांडेसी : पेपर्स फ़ॉर द कल्चरल स्टडीज़ वर्कशॉप*, सेंटर फ़ॉर स्टडीज़ इन सोशल साइंसेज़, कलकत्ता.
3. जे.सी. कुमारप्पा (1945/1997), *इकॉनॉमी ऑफ़ परमानेंस*, सर्वसेव संघ प्रकाशन, वाराणसी.
4. जे.सी. कुमारप्पा (1949/1960), *व्हाई द विलेज मूवमेंट : अ प्ली फ़ॉर अ विलेज सेंटर्ड इकॉनॉमिक ऑर्डर फ़ॉर इण्डिया*, सर्वसेवा संघ, वर्धा.

— रवि दत्त वाजपेयी

जोगेंद्र नाथ मण्डल

(Jogendra Nath Mandal)

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, विधिवेत्ता और प्रशासक जोगेंद्र नाथ मण्डल (1904-1968) का अनूठा कृतित्व दो बातों के लिए हमेशा याद किया जाता रहेगा। पहली, उन्होंने आज़ादी से पहले की अवधि में अविभाजित बंगाल में दलितों के साथ होने वाले भेदभाव और शोषण के खिलाफ़ संघर्ष किया, और दूसरी उन्होंने बंगाल की राजनीति में मुसलिम लीग के साथ मिल कर पाकिस्तान की माँग ही नहीं उठायी बल्कि पाकिस्तान के पहले क़ानून मंत्री भी रहे। उन्होंने नवगठित पाकिस्तान की सरकार में श्रम मंत्रालय, राष्ट्रमण्डल और कश्मीरी मामलों के विभाग भी सँभाले। मण्डल को मुहम्मद अली जिन्ना के साथ पाकिस्तानी राज्य के संस्थापकों में से एक माना जाता है। 1947 से 1950 के बीच में मण्डल पाकिस्तानी संविधान सभा के अस्थायी अध्यक्ष भी थे। दरअसल, मण्डल का विचार था कि भारत का विभाजन होने से दलितों को लाभ होगा। लेकिन जब पाकिस्तानी शासकों के असली इरादे उनके सामने स्पष्ट हुए, उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री लियाक़त अली ख़ाँ को इस्तीफ़ा दे दिया और भारत लौट आये। उन्होंने आरोप लगाया कि पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का हनन किया जा रहा है। वे मानते थे कि पाकिस्तानी नेताओं ने उन राजनीतिक मूल्यों को त्याग दिया है जिनकी पैरोकारी मुहम्मद अली जिन्ना करते थे। मण्डल की राजनीतिक गतिविधियाँ कुछ इस क्रिस्म की थीं कि उनका असर सीमा के दोनों तरफ़ पड़ता था। 1946 में अविभाजित भारत की संविधान सभा के लिए डॉ. आम्बेडकर

को बंगाल से चुनवाने में उनकी प्रमुख भूमिका थी।

जोगेंद्र नाथ मण्डल का जन्म 29 जनवरी, 1904 को बारिसाल जिले के मैस्टरकण्डी खेड़े में नमोशूद्र जाति में हुआ था। उनकी माता संध्या देवी तथा पिता रामदयाल धार्मिक स्वभाव के थे। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उन्हें पढ़ाई के साथ ट्यूशन भी करनी पड़ती थी। ढाका विश्वविद्यालय से एमए करने के बाद वे कलकत्ता विश्वविद्यालय से 1934 में विधि स्नातक हुए। मण्डल जी की आरम्भ से ही यह लालसा थी कि वे अपनी पढ़ाई पूरी कर सामाजिक क्रांति के लिए जीवन भर कार्य करेंगे। प्रशासकीय नौकरी स्वीकार करने के स्थान पर उन्होंने वकील के रूप में कार्य करना पसंद किया। जिला न्यायालय में वकालत करने के दौरान न सिर्फ़ कानूनविद् के रूप में उनकी प्रतिभा जागी बल्कि सामाजिक सरोकारों में दिलचस्पी भी बढ़ी। उन्होंने इसी दौरान वे कलकत्ता के अन्य प्रभावशाली लोगों से सम्पर्क में आये। यह वही दौर था, जब उनकी मुलाकात सुभाष चंद्र बोस से हुई। कलकत्ता नगर पालिका में वे सुभाषबाबू की मदद से चुने गये। राजनीति में यह उनका पहला कदम था। इसी दौरान पूरे देश में कम्युनल अवॉर्ड की चर्चा ज़ोरों पर थी। आम्बेडकर और गाँधी के बीच सहमति और असहमति के कुछ बिंदुओं के कारण हिंदू समाज में ज़बरदस्त मंथन था। ऐसे वातावरण में मण्डल की मुलाकात डॉ. आम्बेडकर से भी हुई। राजनीतिक उथल-पुथल के इस दौर में पूरे देश में पहली बार लोकतांत्रिक आधार पर चुनाव कराने की योजना को 1935 के इण्डिया एक्ट के अनुसार अमली जामा पहनाने के शुरुआत हुई। 1937 में उन्होंने बंगाल विधानसभा के लिए चुनाव लड़ा और कांग्रेस के ज़मींदार उम्मीदवार को हरा कर विजयी हुए। दलितोद्धार के प्रश्न पर मण्डल का डॉ. आम्बेडकर से संवाद हुआ। जैसे-जैसे उनकी मुलाकातें हुईं, वैसे-वैसे बंगाल में उनके द्वारा आरम्भ किये गये कार्यक्रमों का विस्तार हुआ।

जुलाई, 1942 में जब डॉ. आम्बेडकर के नेतृत्व में नागपुर में अखिल भारतीय दलित वर्ग का सम्मेलन हुआ। उसमें बंगाल के प्रतिनिधि मण्डल मण्डल का नेतृत्व जोगेंद्रनाथ मण्डल ने किया था। इसी सम्मेलन में शेडयूल्ड कास्ट्स फ़ेडरेशन की स्थापना हुई थी। 1943 में वे बंगाल में ख्वाजा नज़ीमुद्दीन सरकार में सहकारिता और अनुदान मंत्री बने। अपने कार्यकाल में उन्होंने शासकीय सेवा में दलितों के प्रवेश हेतु ज़मीन बनायी। इसी समय उन्होंने बैंगयी हालदार पब्लिक अकादमी के माध्यम से एमए स्कूल आरम्भ किया ताकि दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार हो सके। मण्डल ने *जागरण* नामक साप्ताहिक अख़बार भी निकाला। अगस्त, 1944 में आम्बेडकर कलकत्ता गये जहाँ फ़ेडरेशन की तरफ़ से सियालदह रेलवे मेंशन में उनका भव्य स्वागत हुआ जिसमें मण्डल ने भी भागीदारी की। इसी के बाद वे फ़ेडरेशन के

सदस्य बन गये। मार्च, 1945 में नज़ीमुद्दीन सरकार गिर गयी। अगले साथ फिर से विधानसभा के लिए चुनाव हुए। मण्डल आरक्षित के बजाय सामान्य निर्वाचन क्षेत्र बाकरगंज से खड़े हुए और जीते। अप्रैल, 1946 में एच.एस. सुहरावर्दी की मुसलिम लीग सरकार में मण्डल को मंत्री बनाया गया।

19 जुलाई, 1946 में संविधान सभा के चुनाव हुए। डॉ. आम्बेडकर का महाराष्ट्र के साथ अन्य हिंदी राज्यों से चुनाव जीतना लगभग असम्भव था। तब मण्डल ने ही उन्हें कलकत्ता से चुनाव लड़ने के लिए आमंत्रित किया था। इस जोखिम में वे सफल हुए। उस समय मण्डल विधायक थे। अन्य विधायकों की मदद से आम्बेडकर बंगाल विधि मण्डल से संविधान समिति के लिए चयनित हुए।

पाकिस्तान के संविधान-निर्माता और कानून मंत्री के रूप में उन्होंने देखा कि जिन्ना की सेकुलर दृष्टि के विपरीत किस तरह लियाक़त अली ख़ाँ की सरकार इसलाम को नये राष्ट्र का आधिकारिक धर्म घोषित करने का जुगाड़ कर रही है। मण्डल ने उस प्रस्ताव का विरोध किया जो पाकिस्तान को एक राष्ट्र के रूप में इसलाम से जोड़ता था और जिसके कारण वहाँ के धार्मिक और जातीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों का हनन होता था। 8 अक्टूबर, 1950 में प्रधानमंत्री को लिखे गये त्यागपत्र में उन्होंने विस्तार से व्याख्या की है कि पाकिस्तान किस तरह अल्पसंख्यक विरोधी राह पर जा रहा है। इसके बाद वे कलकत्ता चले आये। पश्चिम बंगाल के दलितों की समस्या के बारे में उन्होंने साठ के दशक में प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री से संवाद स्थापित किया, और 1967 में बारासात निर्वाचन क्षेत्र से रिपब्लिकन पार्टी के टिकट पर चुनाव भी लड़े, लेकिन जीत नहीं सके।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाड़गे बाबा, गुरु घासीदास, गोपाल बाबा वलंगकर, जगजीवन राम, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. जुगल किशोर (2002), *भारत के अग्रणी समाज सुधारक*, सेंचुरी पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. जेम्स हेवर्थ-डन (1952), *पाकिस्तान : द बर्थ ऑफ़ अ न्यू मुसलिम स्टेट*, रिनेसाँ बुकशॉप, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन.
3. सलाहुद्दीन अहमद (2004), *बांग्लादेश : पास्ट ऐंड प्रज़ेंट*, एपीएच पब्लिशिंग कम्पनी, नयी दिल्ली.

— मोहन दास नैमिशराय

जोहान गॉटफ्रीड हर्डर

(Johann Gottfried Herder)

अपने युग के सर्वाधिक प्रभावशाली और सृजनशील चिंतकों में अग्रणी जर्मन दार्शनिक जोहान गॉटफ्रीड हर्डर (1744-1803) को राष्ट्रवाद का आदि-सिद्धांतकार माना जाता है। संस्कृतियों को एक विशिष्ट आंगिक इकाई के रूप में देखने के उनके आग्रह ने ही सांस्कृतिक इतिहास लेखन के अनुशासन को जन्म दिया। राष्ट्रवाद का प्रचलित संस्करण हर्डर द्वारा स्थापित सांस्कृतिक राष्ट्र के विचार और सम्प्रभुता की अवधारणा के संयोग का ही परिणाम है। विरोधाभास यह है कि उन्होंने जिस तरह के राष्ट्र की वकालत की, उसके केंद्र में न तो राज्य की संस्था थी और न ही सम्प्रभुता का विचार।

दरअसल, हर्डर मानव समाज में राज्य की केंद्रीय भूमिका से असहमत थे। उनके राष्ट्रवाद को रोमांटिक नैशनलिज़म की संज्ञा दी जाती है। उन्होंने युरोपीय ज्ञानोदय द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, क्रिया और सौंदर्य के कालातीत, सार्वभौम और बुद्धिवादी मानकों के प्रति-विचार की स्थापना करते हुए देश-काल के दायरे में विशिष्ट और पारिवेशिक के महत्त्व को रेखांकित किया। हर्डर के चिंतन से स्वच्छंदतावाद ने गहरी प्रेरणाएँ प्राप्त कीं और कला-साहित्य के संसार को एक नया दिगंत प्राप्त हुआ। उनके विमर्श में भाषा का केंद्रीय स्थान था। वे मानते थे कि विचार और भाषा अविभाज्य हैं। भाषा विचारों को व्यक्त ही नहीं करती, बल्कि विचारों की रचना भी करती है। सभी भाषाओं के साझा उद्गम को लिखित इतिहास में तलाशते हुए उन्होंने भाषा के महत्त्व की उपेक्षा करने के लिए अपने गुरु इमैनुएल कांट की आलोचना की। उनका दावा था कि भाषा ऐंद्रिक भी होती है और बौद्धिक भी। वह कविता के साथ मिल कर मानवीय सामूहिकता और सांस्कृतिक समुदाय की रचना करती है। हर्डर को लोक-गीतों के अध्ययन की परम्परा डालने का श्रेय भी दिया जाता है। युरोपीय चिंतन और सृजनशीलता पर हर्डर के क्रांतिकारी असर का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उन्होंने हीगेल जैसे दार्शनिक को भी प्रभावित किया और कवि गेटे को भी।

पूर्वी जर्मनी के एक पिछड़े इलाके में पैदा हुए हर्डर के पिता एक स्कूल में पढ़ाते थे। एक छात्र के रूप में उन्होंने कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में कांट के शैक्षणिक मार्गदर्शन में ज्ञानोदय के विमर्श का दार्शनिक अध्ययन किया। वहीं उनकी

मुलाकात बुद्धिवाद विरोधी चिंतक जे.जी. हैमैन से हुई। दोनों के बीच जीवन-पर्यंत गहरी मित्रता रही। 1764 में हर्डर ने रिगा में अध्यापक की नौकरी की और अगले साल लूथर के उसूलों को मानने वाले पादरी का बाना धारण किया। चार साल बाद हर्डर ने यात्राओं का लम्बा सिलसिला शुरू किया। वे फ्रांस, हॉलैण्ड और जर्मनी में जम कर घूमे। वहीं उनकी मुलाकात गेटे से हुई। दोनों ने मिल कर जर्मन चरित्र और कला के ऊपर एक किताब भी रची। इसी मित्रता के कारण हर्डर को तत्कालीन वाइमर शासन में दरबार के पुरोहित का पद मिला जिस पर वे आजीवन आसीन रहे।

अपने बौद्धिक जीवन की शुरुआत में हर्डर युरोपीय ज्ञानोदय और उसके जर्मन अनुयायियों से प्रभावित थे। कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में कांट की देख-रेख में अध्ययन करते हुए उनका परिचय रूसो, ह्यूम और मॉंतेस्क्यू के विचारों से हुआ। लेकिन जल्दी ही उनके चिंतन की दिशा बदल गयी। ज्ञानोदय के गर्भ से निकली ज्ञानमीमांसा को चुनौती देते हुए उन्होंने भौतिक प्रकृति के विज्ञान आधारित अध्ययन और स्वयं अपना विकास करने में सक्षम मनुष्य की प्रकृति के अध्ययन की पद्धतियों के बीच अंतर स्थापित किया। उनका तर्क था कि केवल विज्ञान की शरण में जाने से यथार्थ के सभी आयामों का अध्ययन नहीं किया जा सकता। मानवीय विचार और क्रिया की समझ हासिल करने के लिए विज्ञान का अध्ययन करने के बजाय इतिहास, साहित्य, कला और ख़ास तौर से भाषा का अध्ययन करना पड़ेगा। हर्डर के मुताबिक प्रत्येक मानवीय गतिविधि, दृष्टिकोण और संस्कृति का अध्ययन उसके अपने विशिष्ट उद्देश्यों और लक्ष्यों के अनुरूप ही होना चाहिए। हर्डर के इन विचारों ने युरोप में दर्शन, इतिहास, भाषाशास्त्र और राजनीतिक चिंतन के तौर-तरीकों पर निर्णायक असर डाला। स्वच्छंदतावाद के रूप में ज्ञानोदय का प्रति-विचार विकसित करने में उनकी भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

हर्डर के राजनीतिक विचारों का आत्यंतिक संबंध उनके भाषा और संस्कृति संबंधी विमर्श से है। उनका कहना था कि मनुष्य का सामूहिक जीवन भाषा और कविता के हाथों रचा जाता है। इस संबंध में उनके कई कथन मशहूर हैं : 'भाषा किसी समूह का साझा अनुभव व्यक्त करती है', 'कवि राष्ट्र की रचना करता है' और 'हम उस दुनिया में रहते हैं जिसकी रचना हमने खुद की है'। 1772 में प्रकाशित उनकी रचना *ट्रीटाइज़ ऑन द ओरिजिन ऑफ़ द लेंग्वेज* को उसकी



जोहान गॉटफ्रीड हर्डर (1744-1803)

मौलिकता के लिए बर्लिन अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी किया गया था। ज्ञानोदय की आलोचना करने वाले उनके विचार इसी ग्रंथ में दर्ज हैं। दो साल बाद उनकी एक और रचना यट अनदर फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री का प्रकाशन हुआ जिसने ज्ञानोदय के आधारभूत दर्शन से उनकी दूरी और बढ़ा दी। 1784 से 1791 के बीच रचे गये विशद अध्ययन *आइडियाज़ फॉर द फिलॉसफी ऑफ द मैनकाइंड* को उनकी सबसे महान रचना माना जाता है।

हर्डर की राष्ट्र संबंधी प्रस्थापनाओं को सदुपयोग ही नहीं, बल्कि दुरुपयोग से भी गुजरना पड़ा है। कालांतर में उनके विचारों का ऐसी दिशाओं में विकास किया गया, जिनसे वे कभी सहमत नहीं हो सकते थे। उनका कहना था कि राजनीतिक समुदाय और राजनीतिक अस्मिता का सच्चा आधार सांस्कृतिक राष्ट्र ही हो सकता है। उनका यह दावा ज्ञानोदय द्वारा प्रतिपादित इस विचार के विपरीत था कि राजनीतिक समुदाय की रचना सामाजिक समझौते के जरिये मिलने वाली सम्प्रभुता के आधार पर ही हो सकती है। ज्ञानोदय द्वारा रचे गये विमर्श के केंद्र में राज्य की संस्था थी। फ्रांसीसी क्रांति ने भी इसी राज्य-केंद्रीयता के आधार पर राष्ट्र के विचार का विकास किया था। हर्डर की मान्यता थी कि राज्य का एकात्मक चरित्र स्थानीय विभेदों को खत्म करके समाज पर समरूपता थोप देगा। दरअसल, उन्होंने नौकरशाही द्वारा नियंत्रित शासन-तंत्र और इनसान को प्रशासनिक मशीन का महज पुर्जा भर बना देने से जुड़े बीसवीं सदी के कई अहम सरोकारों के बारे में पहले से ही अंदाजा लगा दिया था। हर्डर की निगाह में राज्य एक गढ़ी हुई कृत्रिम संरचना थी, और राष्ट्र के विचार का आधार आंगिक (ऑर्गनिक) इकाई पर विकसित हुए समाज पर टिका था। हर्डर को उम्मीद थी कि संस्कृति आधारित राष्ट्र की उनकी अवधारणा सामाजिक समझौते और सम्प्रभुता के विचारों को प्रतिस्थापित कर देगी। वे राजनीतिक प्राधिकार को प्रभावी तो बनाना चाहते थे, पर उनकी शर्त थी कि उसके बुनियादी चरित्र पर किसी क्रिस्म की तरतमता और दमनकारी प्रवृत्तियाँ हावी न हों। हर्डर सामाजिक सत्ता को एक वृहत्तर राष्ट्र के तहत अलग-अलग लेकिन परस्पर निर्भर समुदायों के माध्यम से व्यक्त होते देखना चाहते थे। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रबल प्रवक्ता के रूप में उन्होंने बोलने-लिखने की आजादी के लिए अपने सांस्कृतिक राष्ट्र में शिक्षात्मक भूमिका निर्धारित की थी। उन्होंने परम्परा के महत्त्व को रेखांकित किया लेकिन उसे प्रगति की एंटी-थीसिस मानने से इनकार कर दिया। उनका विचार था कि ज्ञानोदय की प्रगति संबंधी अवधारणा सतही और सरलीकृत है, इसलिए प्रगति के विचार को उसकी जकड़ से मुक्त करना ज़रूरी है।

हर्डर के इस मुक्तिकामी विमर्श को अगर राष्ट्रवाद की

परवर्ती संरचनाओं से मिलाया जाए तो आश्चर्य होता है कि उनके सिद्धांत को बहिर्वेशनकारी राष्ट्र के विचार का स्रोत कैसे बना लिया गया। फ्रांसीवाद और नाज़ीवाद ने राज्य की संस्था को पूजा की वस्तु बना कर हर्डर द्वारा सांस्कृतिक राष्ट्र से जोड़ दिया। लेकिन सच्चाई तो यह है कि चाहे व्यक्ति हो या समुदाय, हर्डर सभी के अधिकारों के महान चैम्पियन थे। उन्होंने सारे जीवन किसी भी क्रिस्म की बंदिशों और बौद्धिक बेड़ियों का विरोध किया।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, , थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकेल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत.

संदर्भ

1. एच.एस. निस्वेट (1970), *हर्डर ऐंड द फिलॉसफी ऐंड हिस्ट्री ऑफ साइंस*, मॉडर्न ह्यूमैनिटीज़ रिसर्च एसोसिएशन, केम्ब्रिज.
2. जी.ए. वेल्स (1959), *हर्डर ऐंड आफ्टर*, द हेग, मौटन .
3. एफ.एम. बर्नार्ड, *हर्डर्स सोशल ऐंड पॉलिटिकल थॉट : फ्रॉम एनलाइटेनमेंट टू नैशनलिज़्म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. आर.ई. नॉर्टन (1991), *हर्डर्स एस्थेटिक्स ऐंड द युरोपियन एनलाइटेनमेंट*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, एनवाई.

— अभय कुमार दुबे

जॉन कैनेथ गालब्रेथ

(John Kenneth Galbraith)

अमेरिकी अर्थशास्त्री जॉन कैनेथ गालब्रेथ (1908-2005) अर्थशास्त्रियों द्वारा केवल भौतिक उत्पादन पर जोर देने के खिलाफ़ थे। उनका विचार था कि उत्पादन उद्देश्य नहीं हो सकता, बल्कि उपभोग के लिए उत्पादन किया जाता है। केवल उत्पादन पर जोर देने से प्रतियोगिता की तीव्रता बढ़ती है जिससे बड़ी फ़र्मों का बाज़ार पर नियंत्रण बहुत बढ़ जाता है। नतीजतन आर्थिक असमानताएँ बढ़ती हैं। उनकी मान्यता थी कि विशाल फ़र्मों अपनी ज़बरदस्त ताक़त के कारण



जॉन कैनेथ गालब्रेथ (1908-2005)

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं पर बोलबाला क्रायम कर लेती हैं, उनकी इस शक्ति से प्रौद्योगिकीय विकास को बल मिलता है और आर्थिक ख़ुशहाली में बढ़ोतरी भी होती है। इसलिए, इस शक्ति को खण्डित करने के बजाय ट्रेड यूनियनों और छोटी-छोटी प्रतियोगी फ़र्मों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि निजी क्षेत्र में बड़ी फ़र्मों की कारगुजारियों को संयमित किया जा सके। गालब्रेथ का विचार था कि बड़े निगमों का मुक़ाबला करने के लिए सरकार को जनता के इस्तेमाल की चीज़ें सप्लाय करने की ज़िम्मेदारी उठानी चाहिए, पर्यावरण की रक्षा करने का प्रयास करना चाहिए, हथियारों की होड़ को थामना चाहिए, रोज़गार का आश्वासन देते हुए सभी मज़दूरों को ठीक-ठाक आमदनी मुहैया कराने और दामों को नियंत्रित करने के उपाय करने चाहिए। अर्थशास्त्र के हलकों में गालब्रेथ पारम्परिक आर्थिक सिद्धांत के आलोचक की तरह देखे जाते हैं। उन्होंने आदर्श प्रतियोगिता के सिद्धांत को कभी सही नहीं माना और राजनेताओं को आड़े हाथों लिया कि वे जन-हित में काम करने के बजाय बड़े कॉर्पोरेशनों के सामने झुक जाते हैं। गालब्रेथ ने अपने आर्थिक विश्लेषण में सत्ता और सत्ता संबंधों के पहलू का समावेश किया और उन अर्थशास्त्रियों को 'बोदे विद्वानों' की संज्ञा दी जो पेचीदा गणितीय समीकरणों को तो समझ लेते हैं लेकिन अर्थव्यवस्थाओं की वास्तविक गतिविधियों को समझने में नाकाम रहते हैं।

जॉन कैनेथ गालब्रेथ का जन्म लेकर एरी के उत्तरी तट पर स्थित एक छोटे से क़स्बे में हुआ था। उनका लालन-

पालन सदर्न ओंटारियो, कनाडा में हुआ। खेतों में काम करने के कारण उनकी पढ़ाई-लिखाई में कई बार बाधा पड़ी। अर्थशास्त्र में उनकी शुरुआत बर्कले में कृषि आर्थिकी का अध्ययन करने से हुई। उनका ज़्यादातर अकादमीय जीवन हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हुए बीता। बीच-बीच में वे राजनीति में भी भाग लेते रहे। पचास और साठ के दशक में वे अडलाई स्टीवेंसन और जॉन एफ़. कैनेडी की चुनावी मुहिमों के सलाहकार और भाषण-लेखक भी रहे। 1961 में उन्हें भारत का राजदूत बना कर भेजा गया। उनकी रचनाएँ *द एफ़्लुएंट सोसाइटी* (1958) और *द न्यू इंडस्ट्रियल स्टेट* (1967) अर्थशास्त्र से बाहर के हलकों में भी दिलचस्पी से पढ़ी जाती हैं। उन्होंने 1981 में अपनी आत्मकथा *अ लाइफ़ ऑफ़ अवर टाइम्स* भी लिखी।

गालब्रेथ ने 1967 में दलील दी थी कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था का औद्योगिक क्षेत्र उस तरह काम नहीं करता जैसा पाठ्य पुस्तकों में वर्णित है। इस बाज़ार में न प्रतियोगिता है और न ही फ़र्मों में जन-इच्छा के अधीन सक्रिय हैं। दरअसल इस क्षेत्र पर बड़ी इजारेदाराना फ़र्मों का क़ब्ज़ा है जो शेयरधारकों का मुनाफ़ा बढ़ाने की कोशिश करने के बजाय अपने जोखिमों को कम से कम करने की कोशिश करने में लगी रहती हैं। चूँकि बाज़ार की प्रकृति अनिश्चित होती है इसलिए बड़ी फ़र्मों को नयी प्रौद्योगिकियों में किये जाने वाले अपने भारी निवेश से फ़ायदे की गारंटी करने के लिए बाज़ार की लगाम अपने हाथ में लेने का उपक्रम करना पड़ता है।

गालब्रेथ के मुताबिक़ बड़ी फ़र्मों की कोशिश रहती है कि वे सप्लाय के सभी स्रोतों को अपने क़ाबू में रखें और इतने तरह के उत्पाद बनायें कि उपभोक्ताओं की बदलती हुई रुचियों या किसी ख़ास उत्पाद में दिलचस्पी न रह जाने से भी उनकी बिक्री को कोई झटका न लगे। ये फ़र्मों विज्ञापन मुहिमों के ज़रिये उपभोक्ताओं की अभिरुचियों को नियंत्रित भी करती हैं। उत्पादकों और सप्लायरों के बीच दीर्घकालीन करारों के ज़रिये बाज़ार में आने वाले अल्पावधि उतार-चढ़ावों को ये फ़र्मों निष्प्रभावी कर देती हैं।

गालब्रेथ ने स्पष्ट किया कि फ़र्मों मालिकों द्वारा नहीं बल्कि पेशेवर मैनेजर्स द्वारा चलायी जाती हैं। मैनेजर्स का 'टेक्नोस्ट्रक्चर' ही सारे फ़ैसले लेता है, और वही कॉर्पोरेट सत्ता का केंद्र होता है। चूँकि एक आधुनिक और बड़ी फ़र्म का मालिक इंजीनियरिंग, गुणवत्ता नियंत्रण, श्रम-संबंधों और विपणन संबंधी विशेषज्ञताओं से लैस नहीं हो सकता, इसलिए आर्थिक सत्ता प्रशिक्षित मैनेजर्स के हाथों में चली जाती है। लेकिन, मालिक की तरह इन मैनेजर्स को मुनाफ़े में होने वाली बढ़ोतरी से सीधा फ़ायदा नहीं होता। इसलिए टेक्नोस्ट्रक्चर के सदस्यों की कोशिश रहती है कि वे अपनी

तकनीकी प्रवीणता बढ़ाते रहें, उनकी फ़र्म वृद्धि के ग्राफ़ पर ऊपर चढ़ती रहे, एक मैनेजर के रूप में वे बाज़ार में टिके रहें, उन्हें पदोन्नति मिले और उनकी प्रतिष्ठा बनी रहे।

1958 में गालब्रेथ ने उपभोक्ता-सम्प्रभुता की प्रचलित धारणा पर आक्रमण करते हुए दावा किया कि बड़ी फ़र्मों अपनी ताकत के दम पर उपभोक्ताओं के बीच अपने उत्पादों की माँग पैदा करती हैं। निजी क्षेत्र ऐसी बहुत सी अनावश्यक वस्तुएँ पैदा करता है जिन्हें सार्वजनिक इस्तेमाल के लिहाज़ से प्राथमिकता नहीं मिलनी चाहिए। स्थिति यह बनती है कि निजी क्षेत्र द्वारा उत्पादित जितनी ज्यादा वस्तुओं का उपभोक्ता इस्तेमाल करते हैं, उतनी ही कम संतुष्टि उन्हें मिलती है। गालब्रेथ ने कहा कि निजी क्षेत्र द्वारा सार्वजनिक इस्तेमाल की आवश्यक चीज़ों के उत्पादन पर ज़ोर न देने के कारण ही समृद्धि के निजी दायरों के बरक्स सार्वजनिक गंदगी का विस्तार पनपता जाता है। चूँकि निजी क्षेत्र सार्वजनिक इस्तेमाल की आवश्यक वस्तुओं के निर्माण के लिए तैयार नहीं है इसलिए सरकार को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिए, भले ही इसके लिए ज्यादा टैक्स क्यों न लगाने पड़ें।

गालब्रेथ ने अमेरिकी इकॉनॉमिक एसोसिएशन के सामने अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा कि युद्ध, ग़ैर-बराबरी और पर्यावरणीय क्षय का स्रोत वह सत्ता संघर्ष है जो मुनाफ़ाखोरी में लगे हुए कारोपरेरेशनों और सार्वजनिक सरोकारों के बीच होता है। इस सत्ता संघर्षों को नज़रअंदाज़ करके अर्थशास्त्र अपनी प्रासंगिकता खोता जा रहा है।

अपनी रचना *इकॉनॉमिक्स ऐंड पब्लिक परपज़* (1973) में गालब्रेथ ने तर्क दिया कि आर्थिक-सामाजिक मुद्दों पर दो शक्तियों के बीच होने वाली इस जद्दोजहद में राज्य की संस्था को सार्वजनिक सरोकारों का पक्ष लेना ही होगा। बड़ी फ़र्मों को अपने हिसाब से चलाती हैं, विज्ञापनों के ज़रिये साबित कर देती हैं कि लोगों की ख़ुशी उनके उत्पादों की पर्याय है और पर्यावरण की क्षति महज़ एक कपोलकल्पना है। इसके उलट छोटी फ़र्मों को बाज़ार के कहने पर चलना पड़ता है। वे जनमत और राजनीतिक प्रक्रियाओं को अपने हिसाब से तोड़ने-मरोड़ने की न तो हैसियत रखती हैं और न ही संसाधन। गालब्रेथ ने बड़ी फ़र्मों की कारगुज़ारियों को 'प्लानिंग सिस्टम' के रूप में श्रेणीबद्ध किया और छोटी फ़र्मों को 'बाज़ार' की तरह देखा। उन्होंने इन दोनों मक़ामों के बीच आमदनी के पुनर्वितरण का आग्रह किया।

गालब्रेथ मुद्रास्फ़ीति को क़ाबू में रखने के लिए वेतन और दामों पर नियंत्रण लगाने के पक्ष में थे। उनकी रचना *अ थियरी ऑफ़ प्राइस कंट्रोल* (1952) उनके इस सिद्धांत की विशद व्याख्या करती है। लेकिन, अर्थशास्त्रियों की जमात में गालब्रेथ को तकनीकी रूप से बहुत ऊँचा दर्जा प्राप्त नहीं है। उन्हें 'अर्थशास्त्रियों का अर्थशास्त्री' नहीं माना जाता। लेकिन,

इसके बावजूद आर्थिक सत्ता का जैसा विश्लेषण उनकी रचनाओं में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ़्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रीडिश वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ़्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. चार्ल्स हेसियन (1972), *जॉन कैनेथ गालब्रेथ ऐंड हिज़ क्रिटिक्स*, न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, न्यूयॉर्क.
2. डेविड रिज़मेन (1980), *गालब्रेथ ऐंड मार्केट कैपिटलिज़्म*, न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. एम.ई. शार्प (1973), *जॉन कैनेथ गालब्रेथ ऐंड लोअर इकॉनॉमिक्स*, इंटरनेशनल आर्ट्स ऐंड साइंस प्रेस, व्हाइट प्लेंस.
4. जेम्स आर. स्टेनफ़ील्ड (1996), *जॉन कैनेथ गालब्रेथ*, सेंट मार्टिंस प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

जॉन लॉक

(John Locke)

ब्रिटिश अनुभववादी परम्परा के पहले हस्ताक्षर और युरोपीय नवजागरण के सर्वाधिक प्रभावशाली चिंतक जॉन लॉक (1632-1704) राजनीति विज्ञान और ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में अपने अप्रतिम योगदान के लिए पिछले तीन सौ साल से जाने जाते हैं। अमेरिकी संविधान और फ़्रांसीसी क्रांतिकारियों की उद्घोषणाओं पर उनके विचारों की छाप स्पष्ट देखी जाती



जॉन लॉक (1632-1704)

सकती है। उनका सम्पत्ति संबंधी सिद्धांत आज तक राजनीतिक विचारकों के लिए प्रेरक बना हुआ है। लॉक ने आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत को एक तरफ तो राजशाही समर्थकों द्वारा आरोपित दैवी इच्छा के आग्रह से, और दूसरी तरफ थॉमस हॉब्स द्वारा प्रवर्तित राज्य के प्रति सम्पूर्ण आज्ञापालन के आग्रह से मुक्त किया। लॉक के चिंतन में राज्य और चर्च की शक्तियों में पृथक्करण दिखाई देता है। वे अन्यायी और अक्षम शासक के खिलाफ नागरिकों को प्रतिरोध और क्रांति तक का संदेश देने से नहीं हिचकते। लॉक पहले दार्शनिक थे जिन्होंने देकार्तवादी या ईसाई दर्शन के विपरीत मस्तिष्क को एक 'कोरी स्लेट' बताते हुए कहा कि सहजात विचारों के बिना पैदा हो कर मनुष्य संवेदी बोध से ग्रहण किये गये अनुभवों के जरिये ज्ञान प्राप्त करता है। चेतना की निरंतरता के माध्यम से मनुष्य की इयत्ता या उसके आत्म को परिभाषित करने का श्रेय भी लॉक को जाता है।

राजनीतिक सिद्धांतकार के रूप में लॉक की प्रमुख रचना *टू ट्रीटाइज़ ऑन सिविल गवर्नमेंट* (1690) है। *फ्रस्ट ट्रीटाइज़* में लॉक राजशाही समर्थक विद्वान सर रॉबर्ट फ़िल्मर के *ओल्ड टेस्टामेंट* आधारित इस सिद्धांत की धज्जियाँ उड़ा देते हैं कि ईश्वर-प्रदत्त होने के कारण राजा के प्राधिकार का विरोध नहीं किया जा सकता। वे कहते हैं कि ईश्वर ने किसी को शासन करने के लिए नियुक्त नहीं किया है। *सेकण्ड ट्रीटाइज़* राजनीतिशास्त्रियों के लिए कहीं ज्यादा अहम है। इसमें लॉक 'एन एसे कंसर्निंग द ट्रू ओरिजिनल, एक्सटेंट

एंड द ऐंड ऑफ़ द सिविल गवर्नमेंट' शीर्षक के तहत *फ्रस्ट ट्रीटाइज़* के इस दावे से अपनी बात शुरू करते हैं कि प्राकृतिक या दैवी आदेश किसी को किसी का अधीनस्थ नहीं बनाता, सभी व्यक्ति समान पैदा होते हैं और हर कोई अपनी निजता में अपना सम्प्रभु शासक है। लॉक के मुताबिक हर व्यक्ति अपनी शिखिसयत के तहत एक 'सम्पत्ति' का धारक है। समाज में उसकी स्वाधीनता केवल लोगों द्वारा सामूहिक सहमति के आधार पर बनाये गये क़ानून के अलावा किसी और की अधीन नहीं हो सकती।

हॉब्स की तरह प्रकृत-अवस्था का हवाला देते हुए लॉक का दावा है कि प्रकृति ने मनुष्य को जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति का अधिकार दिया है। निजी सम्पत्ति से उनका मतलब है भू-सम्पत्ति जो प्रकृति प्रदत्त है और जिसमें व्यक्ति अपने श्रम का योगदान करके मूल्य पैदा करता है। इस प्रक्रिया में सम्पत्ति व्यक्ति का अभिन्न हिस्सा बन जाती है। लेकिन, लॉक की निगाह में सम्पत्ति का बेहिसाब संचय भी प्रकृति के खिलाफ़ अपराध है क्योंकि उस सूरत में बहुत सी सम्पत्ति बेकार पड़ी रहेगी। इसी जगह धन (जिसमें लॉक सोने-चाँदी को भी शामिल करते हैं जिसका संचय करने वाले के हाथ में क्षय नहीं होता) की भूमिका सामने आती है जिसके जरिये असीमित संचय सम्भव होता है। लॉक की मान्यता है कि विषमता धन के प्रयोग के बारे में प्रच्छन्न समझौते का परिणाम है, न कि नागर समाज की स्थापना करने वाला सामाजिक समझौता या सम्पत्ति को विनियमित करने वाले क़ानून का।

लॉक का राजनीतिक सिद्धांत उस समय प्रतिरोध और क्रांति की गुंजाइशों की तरफ़ स्पष्ट इशारा करने लगता है जब वे कहते हैं कि सरकार तो मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए होती है। हम उसमें अपना विश्वास आरोपित करते हैं, पर उसके पक्ष में अपने अधिकार नहीं छोड़ते। अगर सरकार उन प्राकृतिक अधिकारों का हनन करती है तो उसे विश्वासघात का दोषी समझा जाना चाहिए। ऐसी सरकार का विरोध करना जायज़ है, भले ही उसके लिए हिंसा का सहारा लेना पड़े। क्रांति के जरिए लोग सरकार से वह अधिकार ले सकते हैं जो उन्होंने उसे दिया है। लॉक यह भी मानते हैं कि उनकी इस सिफ़ारिश का मतलब यह नहीं है कि मामूली सी बातों पर सरकारों को पलटा जाने लगे। दरअसल, लोग तब तक प्राधिकार का उल्लंघन करने के लिए तैयार नहीं होंगे जब तक सरकारी कार्रवाइयों के कारण उन्हें बड़े पैमाने पर नुकसान नहीं होगा। 1667 में *एसे ऑन टोलरेशन* लिख कर लॉक ने निजी स्तर पर धार्मिक स्वतंत्रता की वकालत की और राज्य या क़ानून द्वारा उसमें दखल देने का विरोध किया। इस तरह उनके दर्शन से राज्य और धर्म के पार्थक्य का विचार निकला।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में लॉक ने मानवीय इयत्ता का सिद्धांत पेश किया। उनके अनुसार मानवीय इयत्ता आत्म-सचेत और आत्म-चिंतन करने वाली चेतना है जो देह में स्थित है। अर्थात् वे इयत्ता की रचना में देह की भूमिका को भी स्वीकार करते हैं। 1693 में लिखित *एन एसे कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग* में लॉक चेतन मस्तिष्क के क्रमशः उद्घाटन की व्याख्या करते हैं। वे संत ऑगस्टीन के इस विचार से सहमत नहीं दिखते कि मनुष्य मूलतः पापमय है। न ही वे देकार्तवादी चिंतन के इस आग्रह के पक्ष में हैं कि मनुष्य बुनियादी तार्किक प्रस्तावों को सहजात रूप से समझता है। उनके विचार से मानव मस्तिष्क खाली या कोरी स्लेट की तरह है। वह अनुभव के हाथों रचा जाता है। लॉक की यह थीसिस बारहवीं सदी के इस्लामिक दार्शनिक इब्न तुफैल द्वारा रचित अरबी उपन्यास के लैटिन अनुवाद 'फिलोसफ़स ऑटोडिडेक्टस' से प्रभावित थी। इस रचना में इब्न तुफैल समाज से अलग एक द्वीप पर एक बच्चे के वयस्क में विकसित होने का वर्णन करते हैं। बच्चा एक खाली स्लेट के समान है जिस पर अनुभव अपनी इबारतें लिख रहा है।

मानव मस्तिष्क की खाली स्लेट भरने हेतु शिक्षा की भूमिका पर जोर देते हुए लॉक ने *सम थॉट्स ऑन कंसर्निंग एजुकेशन* की रचना की जिसने अठारहवीं सदी के शिक्षा सिद्धांत को 'एसोसिएशनिज़म' की थियरी दी। इसके मुताबिक बचपन में नकारात्मक क्रिस्म के विचारों के 'एसोसिएशन' से बच्चे को बचाना जरूरी समझा जाने लगा। लॉक के मुताबिक विचारों का यही एसोसिएशन व्यक्ति की इयत्ता की बुनियाद डालता है।

जॉन लॉक का जन्म समरसेट, इंग्लैण्ड के एक प्यूरिटन परिवार में हुआ था। उनके पिता वकील थे और गृह युद्ध के दौरान घुड़सवार सेना के नायक के तौर पर संसद के पक्षधरों की तरफ से लड़ चुके थे। लॉक भी ऑक्सफ़र्ड के क्राइस्ट चर्च कॉलेज में पढ़ने गये, पर उन्हें तत्कालीन मध्ययुगीन वितण्डावादी पाठ्यक्रम पसंद नहीं आया। लेकिन हॉब्स की तरह उन्होंने पढ़ाई बीच में नहीं छोड़ी, न केवल एमए पूरा किया बल्कि औषधि विज्ञान की डिग्री भी प्राप्त की। हालाँकि उन्होंने डॉक्टरी कभी नहीं की, पर वे एक बार रॉयल सोसाइटी के सदस्य अवश्य चुने गये। शैफ़्ट्सबरी के पहले अर्ल के चिकित्सा सलाहकार के रूप में वे राजनीति के सम्पर्क में आये। शैफ़्ट्सबरी ने जेम्स द्वितीय की ताज़पोशी का कैथलिक होने के कारण विरोध किया जिसके नाकाम होने पर लॉक इंग्लैण्ड छोड़ कर हालैण्ड चले गये। उन्हें डर था कि जेम्स की हुकूमत में उन्हें सताया जा सकता है। उनकी स्वदेश वापसी तभी हुई जब हालैण्ड के शासक विलियम ऑफ़ ओरेंज की फ़ौजों ने जेम्स को अपदस्थ करके उस रक्तहीन क्रांति को अंजाम दिया जिसे इतिहास 'ग्लोरियस

रेवोल्यूशन' के नाम से जानता है। नवजागरण के दो अन्य विख्यात चिंतकों डेविड ह्यूम और ऐडम स्मिथ की तरह लॉक भी आजीवन अविवाहित रहे, न ही उन्होंने किसी स्त्री से कोई संतान पैदा की।

लॉक के ऊपर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि निजी जीवन में वे पाखण्डी थे। बताया जाता है कि मनुष्य की स्वतंत्रता की इस महान हिमायती ने रॉयल अफ्रीका कम्पनी के जरिये अंग्रेजों द्वारा की जाने वाली गुलामों की तिजारत में जम कर निवेश किया। शैफ़्ट्सबरी के सचिव के तौर पर उन्होंने *फंडामेंटल कांस्टीट्यूशन ऑफ़ कैरोलिना* की रचना में भागीदारी की जिसके आधार पर दास प्रथा को स्वीकार करने वाले सामंती शासन की स्थापना हुई। अपने लेखन के जरिये कुलीन शासन और दासता का विरोध करने वाले लॉक पर आरोप है कि कौंसिल ऑफ़ ट्रेड ऐंड प्लांटेशन के सचिव और बोर्ड ऑफ़ ट्रेड के सदस्य के तौर पर लॉक उन आधे दर्जन लोगों में एक थे जिनके कंधों पर उपनिवेशों और उनकी अन्यायपूर्ण प्रणाली के रख-रखाव की जिम्मेदारी थी।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, जोहान गॉटफ्रीड हर्डर, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत.

संदर्भ

1. एम. क्रेंसटन (1957), *जॉन लॉक : अ बायोग्राफी*, लोंगमेन, लंदन,
2. जॉन डन (1969), *द पॉलिटिकल थॉट ऑफ़ जॉन लॉक*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. सी.बी. मेकफ़र्सन (1962), *द पॉलिटिकल थियरी ऑफ़ पजोसिव इनडिविजुअलिज़म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. जे.डब्ल्यू. गफ़ (1973), *जॉन लॉक्स पॉलिटिकल फिलॉसफ़ी*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
5. रिचर्ड एशक्रॉफ़्ट (1986), *रेवोल्यूशनरी पॉलिटिक्स ऐंड लॉक्स टू ट्रीटाइज़ ऑफ़ गवर्नमेंट*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

— अभय कुमार दुबे

जॉन मेनार्ड कींस

(John Maynard Keynes)

आर्थिक विज्ञान को ही नहीं, बल्कि विश्व अर्थव्यवस्था को स्थायी रूप से प्रभावित करने के मामले में ऐडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स के बाद जॉन मेनार्ड कींस (1883-1946) का नाम लिया जाता है। स्मिथ श्रम विभाजन, पूँजी निवेश और मुक्त बाजार के जरिये पूँजीवाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। मार्क्स ने पूँजीवाद की आलोचना करते हुए उसके आत्म-विनाश की भविष्यवाणी की है। पर, कींस पूँजीवाद के लाभों और हानियों पर एक साथ गौर करते हैं और आर्थिक नीति के औजारों का इस्तेमाल करते हुए सलाह देते हैं कि सरकारें अगर बुद्धिमानी दिखाएँ तो पूँजीवाद के हानिकारक पक्षों से बचते हुए उसके सकारात्मक पक्षों का लाभ उठाया जा सकता है। उन्होंने सैद्धांतिक स्तर पर मैक्रोइकॉनॉमिक (समष्टिगत) विश्लेषण को नयी दिशा दी। दुनिया भर के कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में आज भी कींस की मदद के बिना समष्टिगत अर्थशास्त्र नहीं पढ़ाया जाता। कींस का महत्त्व इससे भी स्पष्ट होता है कि मिल्टन फ्रीडमैन जैसे उनके सिद्धांतों के आलोचक भी कींस का हवाला दिये बिना अपनी बात शुरू नहीं कर पाते। नीतिगत स्तर पर दुनिया में कई सरकारें और उनके केंद्रीय बैंक (जैसे भारत का रिज़र्व बैंक) व्यापार चक्रों को नियंत्रण में रखने के लिए कींस के बताये उपायों का सहारा लेते हैं। व्यापार असंतुलन से निबटने के लिए अपनाये जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय उपाय भी कींस की देन हैं। कींस द्वारा प्रतिपादित नीतियों के आधार पर ही ब्रेटन वुड्स प्रणाली की रचना हुई जिसने कम से कम पच्चीस साल तक विश्व की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया। कींस के प्रमुख आर्थिक सुझाव हैं : घाटे की वित्त-व्यवस्था, उपभोग में वृद्धि, मजदूरी में कटौती का विरोध और तरलता पसंदगी। कींस के अनुयायियों ने बाद में उनके सिद्धांतों की स्वतंत्र व्याख्या करके आर्थिक विज्ञान में एक अलग कींसियन अर्थशास्त्र का प्रवर्तन किया है।

कींस का जन्म केम्ब्रिज में हुआ। उनके पिता केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार, अर्थशास्त्री और प्रतिष्ठित दार्शनिक थे। उन्होंने इंग्लैण्ड के सर्वश्रेष्ठ स्कूलों में शिक्षा प्राप्त की। बताया जाता है कि कींस ने क्लासिक रचनाएँ और दर्शन का अध्ययन जी.ई. मूर के साथ, गणित का अध्ययन अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड के साथ और अर्थशास्त्र का अध्ययन अल्फ्रेड मार्शल के साथ किया। वे केम्ब्रिज के बुद्धिजीवियों के समूह ब्लूमसबरी ग्रुप के सदस्य भी बने। इस समूह में वर्जीनिया वुल्फ, ई.एम. फ़ोर्स्टर और लिटन स्ट्रैची जैसी हस्तियाँ भी शामिल थीं। सिविल सर्विस के इम्तहान में सबसे ज्यादा अंक

पाने वाले वे दूसरे नम्बर के परीक्षार्थी थे। दिलचस्प बात यह है कि वे पहले नम्बर पर आने से सिर्फ़ इसलिए चूक गये क्योंकि उनके अंक तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान और निबंध में तो सबसे अधिक थे, पर अर्थशास्त्र में कुछ कम रह गये थे। कींस ने इण्डिया ऑफ़िस में नौकरी शुरू की और ब्रिटेन के भारतीय हितों की देखरेख करने लगे। जल्दी ही वे इस काम से उकता गये और केम्ब्रिज लौट कर अर्थशास्त्र का अध्यापन करने लगे। तीन साल बाद उन्हें *इकॉनॉमिक जर्नल* का सम्पादन कार्य मिला जो अपने जमाने में आर्थिक विज्ञान की सबसे ज्यादा प्रतिष्ठित पत्रिका थी।

कींस को पहली ख्याति प्रथम विश्व युद्ध के बाद लिखी गयी उनकी रचना *द इकॉनॉमिक कांसीक्वेंसिज़ ऑफ़ पीस* के जरिये मिली। युद्ध में पराजय के बाद जर्मनी पर लादी गयी ब्रिटिश और फ्रांसीसी माँगों का विश्लेषण करते हुए कींस ने भविष्यवाणी की कि इन माँगों को पूरा करने के चक्कर में जर्मनी आर्थिक रूप से तबाह हो जाएगा जिसके कारण जर्मन राष्ट्र में फ्रांस और ब्रिटेन के प्रति और शत्रुता पनपेगी। इसके परिणामस्वरूप भविष्य में जर्मनी और अधिक आक्रोशित और उग्र हो सकता है। कींस की यह भविष्यवाणी कितनी सही निकली, इसका अंदाज़ा द्वितीय विश्वयुद्ध की घटनाओं से लगाया जा सकता है।

अपनी एक अन्य रचना *ट्रैक्ट ऑन मोनेटरी रिफॉर्म्स* में कींस ने मुद्रास्फीति के खतरों की तरफ़ ध्यान खींचा। कींस ने केंद्रीय बैंक पर ज़िम्मेदारी डाली कि उसे बाजार में मुद्रा सप्लाई नियंत्रित करनी चाहिए जिससे दाम स्थिर रहें और मुद्रास्फीति क़ाबू में रहे। यहाँ कींस उन अर्थशास्त्रियों की आलोचना करते नज़र आते हैं जो मानते थे कि मुद्रास्फीति बिना किसी सरकारी हस्तक्षेप के अपने आप ठीक हो जाती है। कींस का मानना था कि अनिश्चित भविष्य के लिए इंतज़ार करने के बजाय नीतिगत हस्तक्षेप करके आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया को मुद्रास्फीति से बचाया जाना चाहिए।

बीस के दशक में जब ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था आर्थिक ज्वार-भाटे और बेरोज़गारी की ऊँची दर से गुज़र रही थी, कींस ने *अ ट्रीटाइज़ ऑन मनी* में बचत और निवेश के संबंध को इस उतार-चढ़ाव का ज़िम्मेदार करार दिया। उन्होंने धन, क्रीमतों और बेरोज़गारी के बीच रिश्ते का गहन विश्लेषण किया। कींस के अनुसार जब लोगों द्वारा की जाने वाली बचत पूँजीपतियों द्वारा किये जाने वाले निवेश से आगे बढ़ जाती है तो उद्योगपति ज्यादा माल बनाते हैं पर उसे ख़रीदने वाले बाज़ार में नहीं होते। जब निवेश बचत से ज्यादा होता है तो उपभोक्ता बाज़ार में ख़र्च करता है। उद्योगपतियों को अधिक माल बनाने और नयी मशीनरी लगाने के लिए मजदूरों की ज़रूरत पड़ती है। ख़र्चा बढ़ने पर वेतन भी बढ़ता है, और उत्पादन की लागत भी बढ़ती है और चीज़ों के दाम भी। परिणामस्वरूप इस स्थिति से मुद्रास्फीति बढ़ती है। असल में



जॉन मेनार्ड कींस (1883-1946)

बचत करने का फ़ैसला करने वाले और निवेश करने का फ़ैसला करने वाले अलग-अलग लोग होते हैं। दोनों का मक़सद एक हो, इसकी कोई गारंटी नहीं होती। यह सरकार के केंद्रीय बैंक की ज़िम्मेदारी है कि वह दोनों पक्षों को एक-दूसरे के खिलाफ़ न होने दे ताकि स्फ़ीति या मंदी से बचा जा सके। अगर बचत निवेश से बढ़ती है तो बैंक को ब्याज दरें कम कर देना चाहिए ताकि बचत हतोत्साहित हो सके और निवेश हेतु ऋज लेने की प्रवृत्ति प्रोत्साहित की जा सके। अगर निवेश बचत से आगे जाता है तो बैंक को ब्याज दरें बढ़ाना चाहिए ताकि उद्योगपति कम उधार लें और लोगों की दिलचस्पी बचत में बढ़ सके।

कींस की सबसे महान रचना *द जनरल थियरी ऑफ़ एम्प्लायमेंट, इंटरैस्ट ऐंड मनी* (1936) मानी जाती है। बीसवीं सदी में अर्थशास्त्रियों के बीच सबसे ज़्यादा बहसों इसी किताब पर हुई हैं, और इसे ही मैक्रोइकॉनॉमिक्स का जन्मदाता माना जाता है। इस रचना में कींस अपने से पहले के अर्थशास्त्रियों की आलोचना करते हुए किसी अर्थव्यवस्था में उत्पादन और रोज़गार की उचित मात्रा तय करते नज़र आते हैं। यह पुस्तक कोई नीतिगत सिफ़ारिश नहीं करती, पर इसके ज़रिये सरकारों को उन नीतियों का सैद्धांतिक आधार मिला जिन्हें अपना कर वे तीस के दशक में चल रही महामंदी की जकड़ से निकल पायीं।

कींस के पहले फ़्रांसीसी अर्थशास्त्री ज्यॉ बापतीस्त से द्वारा प्रवर्तित नियम का बोलबाला था जिसे 'से का नियम'

कहा जाता है। से का कहना था कि अर्थव्यवस्था में उत्पादन की अधिकता कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि ख़रीदारी बिके हुए माल से होने वाली आमदनी से होती है। इस तरह से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आपूर्ति अपनी माँग ख़ुद पैदा करती है। से का दावा यह भी था कि अर्थव्यवस्था अपना संतुलन ख़ुद प्राप्त करती है और इस प्रक्रिया में पूर्ण रोज़गार की स्थिति सम्भव है। से के इस सिद्धांत का खण्डन करने वाले कींस के विचार माँग की कमी, उत्पादन की अधिकता और बेरोज़गारी के प्रकोप से पैदा हुए महामंदी के दौर में काफ़ी उपयोगी साबित हुए। कींसियन अर्थशास्त्र के एक शुरुआती व्याख्याता लारेंस क्लीन कींस द्वारा प्रतिपादित प्रभावी माँग के सिद्धांत को आर्थिक विज्ञान में क्रांति का वाहक मानते हैं, क्योंकि इसके ज़रिये उत्पाद के सकल स्तर का निर्धारण किया जा सकता है। दरअसल, कींस के पहले अर्थव्यवस्था परिवारों और फ़र्मों के अध्ययन पर केंद्रित रहती थी, जबकि कींस के बाद समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सकल आकलन पर ज़ोर दिया जाने लगा। कींस के बाद से यह भी माना जाने लगा कि रोज़गार के क्षेत्र में अर्थव्यवस्थाएँ लाज़मी तौर पर एक अस्थायी बेरोज़गारी का शिकार रहेंगी। कींस ने आर्थिक विज्ञान में समय के महत्त्व पर विशेष ज़ोर देते हुए व्यक्ति के उपभोग की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया और पता लगाने की कोशिश की कि वह किन आधारों पर भविष्य में उपभोग करने का निर्णय लेता है : व्यक्ति आगे चल कर अपनी चालू आमदनी में से खर्च करना चाहेगा या अपनी बचत में से।

कींस ज़ोर दे कर कहते हैं कि सरकारों को अधिक घरों, सड़कों, स्कूलों और अस्पतालों वगैरह का निर्माण करवाना चाहिए। उनकी निगाह में ख़जाने में मुद्रा को सड़ाने से बेहतर था कि निवेश का सामाजिकीकरण कर दिया जाए। कींस पर आरोप लगाया जाता है कि वे व्यापारिक निवेश संबंधी फ़ैसलों को सरकारों द्वारा नियंत्रित करने के पक्षधर थे। दरअसल, उनकी तजवीज़ यह थी कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सकल निवेश का स्तर नियंत्रित रहे। उनकी मान्यता थी कि उपभोक्ता का खर्च कमोबेश स्थिर रहता है, पर पूँजीपति अधिक मुनाफ़े की आशा में निवेश संबंधी फ़ैसले अनियंत्रित ढंग से कर सकते हैं। उनके ऐसे ऋदमों का असर प्रत्याशा और विस्तार के ऐसे चक्र को जन्म दे सकता है जो अर्थव्यवस्था के संतुलन के लिए घातक होगा।

द्वितीय विश्व युद्ध ख़त्म होने पर कींस ने नये अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक बंदोबस्त पर काम करना शुरू किया और मुद्राओं के बीच अपेक्षाकृत स्थायी विनिमय दरों की तजवीज़ की। विश्व युद्ध जीतने वाली ताकतें 1944 में इस प्रस्ताव पर राजी हो गयीं। उन्होंने न्यू हैमशायर की सैरगाह ब्रेटन वुड्स में हुई कांफ़्रेंस में समझौता करके विश्व अर्थव्यवस्था का आधार तैयार किया। कींस की योजना के अनुसार ही इस

समझौते ने विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं को जन्म दिया। लेकिन, अमेरिका कीस की सभी सलाहों को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। कीस का विचार था कि 1930 की महामंदी व्यापार अधिशेष बढ़ाते चले जाने की अंतर्राष्ट्रीय होड़ का नतीजा है। इसलिए वे चाहते थे कि लगातार अधिशेष में रहने वाले देशों को दण्डित करने का प्रावधान भी समझौते में रखा जाए। पर अमेरिका को यकीन था कि युद्ध ने उसकी मैन्यूफेक्चरिंग क्षमताओं को नष्ट नहीं किया है, इसलिए वह व्यापार के मामले में अपना बोलबाला कायम रख सकता है। कीस आखिरी दम तक अमेरिकी प्रभाव के खिलाफ संघर्ष करते रहे। इसी तनाव में उन्हें दिल का दौरा पड़ा जिसके कारण उनका देहांत हो गया।

कीस और उनके अर्थशास्त्र की ज़्यादातर आलोचना मौद्रिकवादियों (मोनेटारिस्ट) स्कूल के अर्थशास्त्रियों ने की है। दरअसल, कीस के प्रभाव से पहले मुद्रा नीति के जरिये अर्थव्यवस्था को संचालित करने का चलन था। कीस ने राजकोषीय नीति के विवेकसम्मत इस्तेमाल से अर्थव्यवस्था को संचालित करने की विधि प्रचलित की। सत्तर के दशक में ब्रेटन वुड्स प्रणाली खत्म होने पर पश्चिमी देशों में मौद्रिकवाद की वापसी हुई, लोकोपकारी राज्य का बोलबाला खत्म हुआ और समष्टित आर्थिक (मैक्रोइकॉनॉमिक) विश्लेषण में कीस की नीतियों की आलोचना मुखर होने लगी। बदली हुई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में दक्षिणपंथियों ने ही नहीं बल्कि वामपंथियों ने भी इसकी आलोचना शुरू कर दी। दक्षिणपंथियों का कहना था कि आमदनी के पुनर्वितरण के लिए बनायी जाने वाली नीतियों ने व्यक्ति की स्वयं की उद्यमशीलता की प्रवृत्ति को नुकसान पहुँचाया है जिससे राज्य का मुख्यापेक्षी होने की प्रवृत्ति पैदा हुई है। वामपंथियों ने कहा कि पूँजीवाद कल्याणकारी अर्थशास्त्र पर आधारित लोकोपकारी राज्य वर्ग, जेंडर और नस्लगत असमानताओं को खत्म करने में नाकाम रहा है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कीसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रीडिश वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार,

भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. डडले डिलार्ड (1948), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ जे.एम. कीस*, प्रेंटिस हाल, न्यूयॉर्क.
2. एल्विन हैंसन (1953), *अ गाइड टू कीस*, मैकग्रा हिल, न्यूयॉर्क.
3. रॉय हैरड (1950), *द लाइफ़ ऑफ़ जॉन मेनार्ड कीस*, नॉर्टन, न्यूयॉर्क.
4. रॉबर्ट लेकाचमन (1966), *द एज ऑफ़ कीस*, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क.
5. रॉबर्ट स्किडेलस्की (1983-1992), *जॉन मेनार्ड कीस*, दो खण्ड, वाइकिंग, न्यूयॉर्क.

—अभय कुमार दुबे

जॉन रॉल्स

(John Rawls)

अमेरिकी राजनीतिक विचारक जॉन रॉल्स (1921-2002) का शुमार नीतिशास्त्रीय तथा राजनीतिक दर्शन की प्रमुख हस्तियों में किया जाता है। 1971 में प्रकाशित रॉल्स की रचना *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* ने पिछले चालीस सालों में आंग्ल-अमेरिकी राजनीतिक दर्शन पर सबसे ज़्यादा प्रभाव डाला है। माना जाता है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पहले बौद्धिक हलकों में राजनीतिक दर्शन फ़ैशन से बाहर हो गया था। पर रॉल्स ने उसे उबार लिया। रॉल्स का मुख्य योगदान उपयोगितावाद के नैतिक सिद्धांत का विकल्प प्रस्तुत करने का है। राजनीतिक दृष्टि से रॉल्स द्वारा किये गये न्याय संबंधी सूत्रीकरण को अमेरिकी अर्थ में उदारतावाद की और यूरोपीय अर्थ में सामाजिक लोकतंत्र की तरफ़दारी के रूप में देखा जाता है। कई बार रॉल्स के सिद्धांत की व्याख्या राजनीतिक चिंतन में सामाजिक समझौते की परम्परा के पुनः उभार के रूप में की जाती है। लेकिन सच्चाई यह है कि उनकी दिलचस्पी और अपने चिंतन को आगे बढ़ाने की प्रणाली इस परम्परा की मुख्यधारा से अलग है। वे सीधे तौर पर राजनीतिक प्राधिकार का औचित्य सिद्ध नहीं करते। इसके बजाय उनका मुख्य मक़सद सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को स्थापित करना है।

ऐसा करने के लिए रॉल्स एक प्रदत्त स्थिति की कल्पना करते हैं कि व्यक्ति 'मूल स्थिति' में और 'अज्ञान के पर्दे' के पीछे रह रहे हैं। इस पूरी तरह से काल्पनिक स्थिति में व्यक्तियों को अपनी प्रतिभा, क्षमता और समाज में स्थान के बारे में कोई जानकारी नहीं है। ऐसे लोगों से कहा जाता है कि वे अपने लिए वितरण का एक ऐसा सिद्धांत तैयार करें जिसके अनुसार उन्हें सामान्य समाज में शासित होना होगा। रॉल्स की काल्पनिक दुनिया के लोग यह तो नहीं जानते हैं कि जीवन में उनके विशिष्ट उद्देश्य क्या हैं, लेकिन वे यह जानते हैं कि अगर उनकी पास कई तरह की प्राथमिक वस्तुएँ होंगी तो यह उनके लिए बेहतर होगा। रॉल्स इन वस्तुओं में अधिकार और स्वतंत्रता, अवसर और शक्ति, आय और सम्पत्ति तथा आत्म-सम्मान के विभिन्न आधारों को शामिल करते हैं। उनकी कल्पना यह है कि हर व्यक्ति अपने लिए इन वस्तुओं को ज्यादा-से-ज्यादा चाहता है। रॉल्स के न्याय के सिद्धांत के दो भाग हैं। पहला सिद्धांत हर व्यक्ति के लिए विस्तृत स्वतंत्रता का प्रावधान करता है। दूसरे सिद्धांत को 'भेदमूलक सिद्धांत' भी कहा जाता है। इसमें यह प्रावधान किया गया है कि सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को इस ढंग से व्यवस्थित किया जाएगा कि इससे हीनतम स्थिति वाले व्यक्ति को लाभ हो। इसके अलावा ये विषमताएँ उन पदों और स्थितियों से जुड़ी होनी चाहिए, जो अवसर के सिद्धांत के अंतर्गत हर किसी के लिए खुली हों। रॉल्स ने इन सिद्धांतों को विशेष पूर्वता-क्रम के अनुसार भी व्यवस्थित किया है। न्याय के सिद्धांत से संबंधित इस विख्यात रचना के प्रकाशन के पहले कई प्रसिद्ध जर्नलों में लिख कर रॉल्स ने इसकी विषयवस्तु पर प्रकाश डाला था। इसी सामग्री को ज्यादा विस्तृत और संशोधित रूप से उन्होंने अपनी किताब में पेश किया।

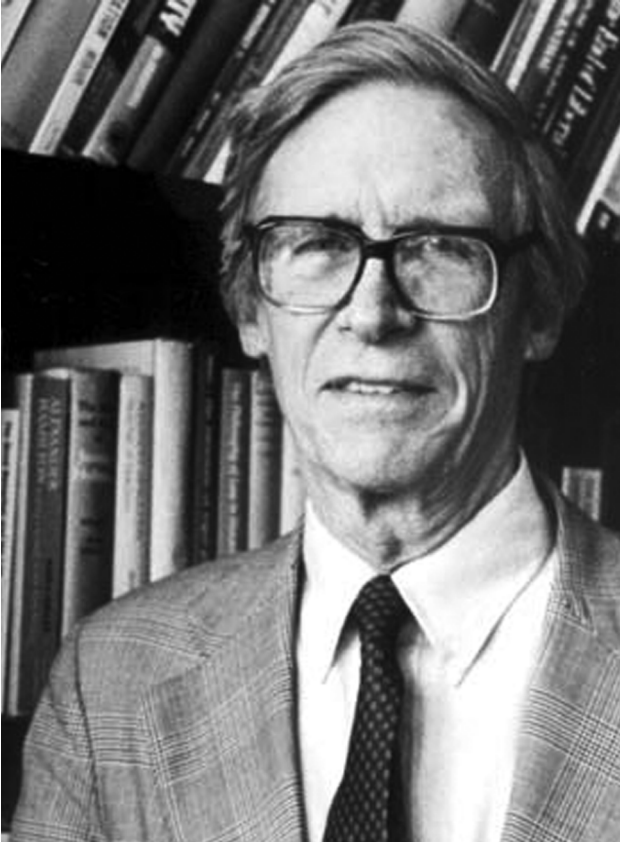
रॉल्स का जन्म बॉल्टीमोर में हुआ था। उनकी स्कूली शिक्षा बॉल्टीमोर और केंट स्कूल में हुई। उन्होंने प्रिंसटन युनिवर्सिटी से ग्रेजुएशन किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वे अमेरिकी सेना में थे। युद्ध खत्म होने के बाद ज्यादा ऊँचे ओहदे का प्रस्ताव मिलने के बावजूद उन्होंने 1946 में सेना की नौकरी छोड़ दी। इसके फ़ौरन बाद वे नीतिशास्त्र में डॉक्टरेट करने के लिए प्रिंसटन चले गये। 1950 में पीएचडी करने के बाद उन्होंने 1952 तक वहीं पर पढ़ाया। फिर फुलब्राइट फ़ेलोशिप मिलने पर वे ऑक्सफ़र्ड चले गये जहाँ राजनीतिक सिद्धांतकार ईसैया बर्लिन और विधिक सिद्धांतकार एच.एल.ए. हार्ट ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। 1962 में वे कॉर्नेल विश्वविद्यालय में ही राजनीतिक दर्शन के प्रोफ़ेसर बने और इसी वर्ष उनका हार्वर्ड युनिवर्सिटी में पदार्पण हुआ जहाँ उन्होंने चालीस साल तक पढ़ाया। रॉल्स ने शायद ही कभी इंटरव्यू दिया हो। वे सार्वजनिक सभाओं आदि में जाने से भी बचते थे। वे मुख्य रूप से अपने

अकादमिक और पारिवारिक जीवन के प्रति ही समर्पित रहे।

रॉल्स की मान्यता है कि उनके समय में समाज में उपयोगितावाद का वर्चस्व था। इस दर्शन में कमी यह है कि वह सभी लोगों के पूरे कल्याण के लिए कुछ खास व्यक्तियों या उनके हितों की कुर्बानी दे सकता है। उनका दावा था कि उनका न्याय-सिद्धांत उपयोगितावाद की कमियों से बचा सकता है। इसके साथ ही वे इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि 'निष्पक्षता के रूप में न्याय' का उनका सिद्धांत सिर्फ़ उन्हीं विश्वासों को व्यक्त करता जिन्हें हम गहनता से स्वीकार करते हैं। रॉल्स के दोनों दावों से कोई भी अविवादित नहीं है।

कुछ आलोचकों का तर्क है कि दरअसल उनकी कल्पित 'मूल स्थिति' के ज़रिये सामने आने वाला सिद्धांत एक तरह का उपयोगितावाद ही है। कुछ आलोचक यह मानते हैं कि रॉल्स मूल स्थिति से जिन सिद्धांतों के उत्पन्न होने का दावा करते हैं उनका हमारे कुछ बद्धमूल विश्वासों के साथ टकराव है। रॉल्स के न्याय के सिद्धांत की नारीवादियों ने भी आलोचना की। इनमें से समुदायवादियों द्वारा की गयी आलोचना महत्वपूर्ण है। रॉल्स ने 1993 में प्रकाशित अपनी दूसरी किताब *पॉलिटिकल लिबरलिज़म* में समुदायवादियों की आलोचनाओं का जवाब देने की कोशिश की। माइकल सैंडल, एलस्टेयर मैकेंटायर, चार्ल्स टेलर और माइकल वॉल्ज़र जैसे समुदायवादियों ने उदारतावाद द्वारा व्यक्ति की अणुवादी परिकल्पना को आड़े हाथों लिया है। इनका मानना है कि रॉल्स समेत सभी उदारतावादियों के लेखन में व्यक्ति की इस तरह चर्चा की जाती है मानो इसका अपने परिवेश या समुदाय के मूल्यों से कोई लेना-देना न हो। इन विद्वानों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि व्यक्तियों को पहले से क्रायम सामाजिक संगठनों के सदस्यों के रूप में ही देखा जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि पुरुष और महिला जिस समाज या समुदाय के सदस्य होते हैं उन्हें उसी से अपने सभी विचार मिलते हैं। इन विद्वानों ने रॉल्स की 'मूल स्थिति' और 'अज्ञान के पर्दे' की आलोचना करते हुए कहा कि यह सोचना बेतुका है कि अपने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों से पूरी तरह अनजान रहने वाले व्यक्ति अपने विकल्पों का चुनाव कर सकते हैं। इस आलोचना के अनुसार व्यक्तियों की सोच समुदायवादी संदर्भ से तय होती है।

रॉल्स ने समुदायवादियों की आलोचना स्वीकार करते हुए परस्परव्यापी आम-सहमति या ओवरलैपिंग कंसेंस का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उन्होंने अस्सी के दशक में समुदायवादियों की आलोचनाओं का जवाब देते हुए लिखे कई लेखों में इन विचारों का विकास किया। रॉल्स ने स्वीकार किया कि उदारतावादी समाज में समुदायों का अस्तित्व होता है, और उदारवादी राज्य इन समुदायों के अस्तित्व को न केवल मान्यता देता है बल्कि इनके आंतरिक मामलों में दखल



जॉन रॉल्स (1921-2002)

नहीं देता। बदले में, समाज के विभिन्न समुदाय उदारतावादी मूल्यों को स्वीकार करते हैं। इस तरह, एक ओवरलैपिंग कंसेंसस की स्थिति सामने आती है।

रॉल्स का कहना था कि उनकी रचना *पॉलिटिकल लिबरलिज़म* में उनके मूल सिद्धांत के बुनियादी निष्कर्षों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इस कृति में भी वे न्याय के उन्हीं दो सिद्धांतों को अपनाते हैं। लेकिन रॉल्स ने इन दो सिद्धांतों, खास तौर पर स्वतंत्रता के सिद्धांत के लिए अपने तर्क में तब्दीली की है। वे दिखाने की कोशिश करते हैं कि समाज के भीतर बुनियादी अधिकारों की हिफाज़त के लिए बहुत सी अलग-अलग दलीलें हैं। इनमें से कुछ व्यक्ति की स्वायत्तता के मूल्य का आह्वान करते हैं, और कुछ ऐसा नहीं करते। इसका आखिरी नतीजा एक परस्परव्यापी आमसहमति ही है।

इसका अर्थ यह निकलता है कि सभी व्यक्ति अलग-अलग कारणों से बुनियादी स्वतंत्रताओं की सुरक्षा के लिए सहमत होते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए रॉल्स अंतःकरण की स्वतंत्रता के विचार का उदाहरण देते हैं। पहला, और सामान्य उदारतावादी तर्क यह है कि हर व्यक्ति के पास अपने विवेक के अनुसार अपने धार्मिक विश्वासों को चुनने या उसमें संशोधन करने के लिए अंतःकरण की आज़ादी होनी चाहिए। दूसरे तर्क में यह कहा जाता है कि हमें धार्मिक विश्वास पहले

से ही मिले हुए हैं और इसलिए वे गहराई से जड़ जमाये हुए हैं। इसमें यह माना जाता है कि हमें अंतःकरण की आज़ादी की ज़रूरत इसलिए है क्योंकि समाज में विभिन्न तरह के संकल्पनाओं की बहुलता है। ये सभी संकल्पनाएँ हमारे धार्मिक विश्वासों की तरह ही गैर-समझौताकारी हैं। यह दूसरा तर्क व्यक्ति के समुदायवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। लेकिन यह भी कहता है कि हम सभी अलग-अलग तरह के होड़रत धार्मिक समूहों के साथ पूरी तरह से जुड़े हुए हैं। इसलिए हमें अंतःकरण की आज़ादी के रूप में धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांत को स्वीकार करने की ज़रूरत है। रॉल्स मानते हैं कि परस्परव्यापी आम सहमति एक सैद्धांतिक सहमति होनी चाहिए न कि एक रणनीतिक समझौता। बहरहाल, विल किमलिका जैसे चिंतकों का मानना है कि परस्परव्यापी आम सहमति का सिद्धांत बहुत आगे तक नहीं जा सकता क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं और समुदाय की स्वतंत्रता में टकराव होने का अंदेशा काफ़ी होता है।

रॉल्स की तीसरी रचना *द लॉ ऑफ पीपुल* (1999) में न्याय के सिद्धांतों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने के बारे में विचार व्यक्त किया है। इस किताब के प्रकाशन के पहले चार्ल्स बिट्ज (1979) और थॉमस पोगे (1989) जैसे सिद्धांतकारों ने रॉल्स के भेदमूलक सिद्धांत को भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने की बात की थी। लेकिन रॉल्स ने इसे नकार दिया। रॉल्स मानते थे कि नागरिकों के विपरीत राज्य अपने-आप में पर्याप्त सहयोगी उद्यम की तरह होते हैं। वे घरेलू समाज का निर्माण करते हैं। इसलिए यहाँ व्यक्तियों की तरह भेदमूलक सिद्धांत लागू करने की ज़रूरत नहीं है। इस कृति में उन्होंने दावा किया कि 'सुव्यवस्थित' पीपुल या लोग 'उदारतावादी' या 'मर्यादित' होते हैं। रॉल्स ने तर्क दिया कि एक उदारतावादी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थिरता के लिए अनिवार्य है कि वह मर्यादित लोगों के प्रति सहनशीलता की नीति अपनाए। मर्यादित लोग उदारतावादी लोगों से इस अर्थ में अलग होते हैं कि ये एक राज्य के धर्म को स्वीकार कर सकते हैं। इसके अलावा वे अल्पसंख्यक धर्मों को मानने वाले लोगों को राज्य में कोई महत्वपूर्ण पद देने से मना कर सकते हैं और चुनावों की बजाय पदानुक्रम पर आधारित विचार-विमर्श द्वारा राजनीतिक भागीदारी को संगठित कर सकते हैं। जो लोग 'उदारतावादी' या 'मर्यादित' होने की कसौटी पर खरा उतरने में नाकाम रहते हैं, वे 'गैर क्रान्ती राज्य', 'प्रतिकूल स्थितियों के बोझ से दबे समाज' या 'परोपकारी निरंकुशतावाद' के रूप में जाने जाते हैं। इन लोगों के पास उदारतावादी और मर्यादित लोगों की तरह परस्पर सम्मान या सहिष्णुता की भावना नहीं होती।

बहरहाल, रॉल्स ने तरफ़दारी की कि जो सरकारें आर्थिक कारणों से मानवाधिकारों की सुरक्षा नहीं कर पा रही

हैं उन्हें आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। लेकिन उन्होंने यह दावा किया कि इस तरह की आर्थिक सहायता का उद्देश्य यह नहीं होता कि आगे चलकर किसी तरह की वैश्विक समानता हासिल की जाए। इसकी बजाय इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होता है कि ये समाज उदारतावादी या मर्यादित क्रिस्म की सामाजिक संस्थाएँ कायम कर पायें। अन्य बातों के अलावा रॉल्स ने इस बात पर भी जोर दिया कि मेहनती जनसंख्या वाले लोगों के राष्ट्र द्वारा कम मेहनत करने वाले लोगों के राष्ट्र को मदद करने से एक नैतिक समस्या उत्पन्न हो सकती है। ऐसी मदद आसानी से मिल जाने के कारण कई सरकारें ग़ैर-जवाबदेह तरीके से काम करेंगी, क्योंकि उन्हें लगेगा कि ज़्यादा जवाबदेह तरीके से काम करने वाले राष्ट्रों द्वारा उन्हें इस समस्या से उबार लिया जाएगा।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक,

जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, थॉमस हॉब्स, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रीडिश वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत.

संदर्भ

1. जॉन रॉल्स (1971), *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, मास.
2. एन. डेनियल्स, (सम्पा.) (1975), *रीडिंग रॉल्स*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
3. बी. बैरी (1973), *द लिबरल थियरी ऑफ़ जस्टिस*, क्लेरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. विल किमलिका (2008), *समकालीन राजनीति-दर्शन : एक परिचय*, अनुवाद : कमल नयन चौबे, पियर्सन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे